मूल्य ₹ 20.00 (भारत में)
रु. 30.00 (नेपाल में)
सितंबर 2016

समकालीन तीसरी दुनिया

महाशक्तियों के प्रभुत्ववाद के खिलाफ तीसरी दुनिया के प्रतिरोध का मुखपत्र

कोलंबिया

कम्युनिस्ट विद्रोहियों के साथ ऐतिहासिक समझौता

- नेपाल और कुछ सवाल
- उत्तर प्रदेश में कांग्रेस की कवायद
- अमेरिकी चुनाव: त्रासदी में प्रहसन
- रघुराम राजन प्रकरण
- वरवर राव से बातचीत

'गाय की पूंछ' पर टिका सामाजिक न्याय

नेपाल और कुछ सवाल

आनंद स्वरूप वर्मा

4 अगस्त 2016 को माओवादी नेता पुष्प कमल दहाल (प्रचण्ड) एक बार फिर नेपाल के प्रधानमंत्री पद पर आसीन हुए। यह उनके दूसरे कार्यकाल की शुरुआत है। पहला कार्यकाल 2008 में 18 अगस्त से 25 मई 2009 तक का था। 2008 में गणतांत्रिक नेपाल के पहले प्रधानमंत्री के रूप में उन्हें देखकर भारत और समूचे दक्षिण एशिया के प्रगतिशील खेमे में जबर्दस्त उत्साह की लहर दौड़ गयी थी और भारत के सत्ता पक्ष तथा प्रतिक्रियावादी खेमे में दहशत फैल गयी। इस बार एकदम उल्टा हुआ। प्रगतिशील खेमा सकते में है; उसे समझ नहीं आ रहा कि ऐसा कैसे संभव हुआ और प्रतिक्रियावादी खेमा अपनी इस विजय पर जश्न मना रहा है। भारत के अखबार और टीवी चैनल भारतीय कूटनीति की सफलता के गीत गा रहे हैं और नॉर्थ ब्लॉक तथा 'रॉ' के इर्द-गिर्द मंडराते 'वरिष्ठ' पत्रकारों को हर रोज कोई ऐसी स्टोरी मिल रही है जो उनके कैरियर में चार चांद लगा दे। नेपाल के उभरते पत्रकारों ने भी कामयाबी का मंत्र अपने वरिष्ठों से सीख लिया है और उनकी भी खोजपूर्ण पत्रकारिता अब विदेश मंत्रालय और रॉ के अफसरों के टिप्स पर ही टिकी हुई है। उन्हें भी लग रहा है कि नेपाल में क्या धरा है-बड़ा पत्रकार बनना है तो भारत के सत्ता पक्ष का दामन पकड़ना ही श्रेयस्कर है।

सत्ता के गलियारे के पेशेवर खिलाड़ी अपनी पीठ ठोंकने में लगे हैं कि उन्होंने ओली की सरकार गिराने और प्रचण्ड को प्रधानमंत्री बनाने में कितनी बड़ी भूमिका निभाई। वे अपने इस पराक्रम को मोदी जी तक पहुंचाने का हर जुगत लगाने में जुटे हैं। इस नस्ल के लोग हर पार्टी में हैं। अभी नेपाल के गृहमंत्री बिमलेन्द्र निधि की भारत यात्रा के समय राष्ट्रवादी कांग्रेस पार्टी के राज्य सभा सदस्य डी.पी. त्रिपाठी ने अपने निवास पर गिने-चुने लोगों की एक पार्टी दी थी जिसमें राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार अजीत डोभाल भी आए थे। वहां 'पायोनियर' की कॉलमिस्ट पत्रकार कल्याणी शंकर को त्रिपाठी ने बताया कि ओली की सरकार गिराने में उन्होंने कैसे मदद की और प्रचण्ड को प्रधानमंत्री बनाया। कुछ को उन्होंने बाद में यह भी संकेत दिया कि बिमलेन्द्र निधि और अजीत डोभाल के बीच गोपनीय वार्ता के लिए ही उन्होंने यह पार्टी आयोजित की थी। नरेन्द्र मोदी का हनुमान बनने के लिए लालायित इस नस्ल में तेजी से इजाफा हो रहा है जो संक्रामक रोग की तरह नेपाल की धरती पर भी फलने-फूलने लगा है।

प्रचण्ड का प्रधानमंत्री बनना और इसकी प्रतिक्रिया में भारतीय सत्ता प्रतिष्ठान का जश्न मनाना कई सवालों को जन्म देता है। के.पी.ओली अच्छे प्रधानमंत्री थे या बुरे, इसकी तह में गए बगैर यह तो निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि ऐसे समय, जब आर्थिक नाकाबंदी थोपकर भारत सरकार नेपाल के घुटने टेकने का इंतजार कर रही थी, ओली ने (और प्रचण्ड ने भी) अपनी जनता का मनोबल बनाए रखा और पड़ोसी की कूटनीतिक उद्दंडता का प्रतिकार करने की ताकत दी। भारत पर आर्थिक निर्भरता कम करने की दिशा में ओली ने जैसे ही प्रयास शुरू किए, प्रचण्ड ने उनकी सरकार को गिरा दिया। सभी जानते हैं कि यह भारत की मदद से हुआ। कैसे भारत ने प्रचण्ड पर भरोसा किया जो हमेशा आंख की किरकिरी थे? क्या प्रचण्ड की एक बार फिर प्रधानमंत्री बनने की जिद/महत्वाकांक्षा ने उन्हें विचलित कर दिया? क्या भारत ने प्रचण्ड को जनयुद्ध काल के 'अपराधों' का हवाला देकर उन्हें ब्लैकमेल किया? क्या भारत का सत्ताधारी वर्ग प्रचण्ड की दूसरी पारी को उनका वाटरलू बनाने की साजिश में है ताकि इस 'अविश्वसनीय और गैर भरोसेमंद' व्यक्ति से हमेशा के लिए छुटकारा मिल जाए और नेपाल को अपने आखेट के लिए संरक्षित क्षेत्र बना लिया जाए? क्या शेर बहादुर देउबा की मदद से अमेरिका और भारत ने जो व्यूह रचना की है उसमें प्रचण्ड बुरी तरह फंस गए हैं? ऐसे अनेक सवाल हैं जो उत्तर की मांग करते हैं। समकालीन तीसरी दुनिया के आगामी अंक में हम इन सवालों पर चर्चा करेंगे। भारत और नेपाल के राजनीतिक विश्लेषकों, राजनेताओं, पत्रकारों आदि के विचारों के जरिए हम इस परिघटना को समझने की कोशिश करेंगे।

इस बीच 15 से 18 सितंबर तक प्रचण्ड की भारत यात्रा तय हुई है। पराजय का दंश जितना मर्मान्तक होता है उतना ही सुख हार के बाद की जीत देती है। 20 सितंबर 2015 से जबसे संविधान की घोषणा हुई 24 जुलाई 2016 यानी ओली के इस्तीफा देने तक एक के बाद एक भारत सरकार को अपमान झेलना पड़ा। नेपाल की राजनीति को अपने ढंग से हांकने का अभ्यस्त और अंग्रेजों से विरासत में मिली औपनिवेशिक मानसिकता से ग्रस्त भारतीय शासक वर्ग के लिए हर वह प्रसंग अपमानजनक है जो किसी भी संप्रभु राष्ट्र के लिए सामान्य माना जाता है। प्रचण्ड ने भारत को इस अपमान से मुक्ति दिलायी और जीत का एहसास कराया। जाहिर है कि भारत सरकार पलक पांवड़े बिछाकर प्रचण्ड के स्वागत के लिए आतुर है।

समकालीन
तीसरी दुनिया

सितंबर 2016

संपादक मंडल
मंगलेश डबराल
राम शिरोमणि शुक्ल
रंजीत वर्मा
अभिषेक श्रीवास्तव

संपादक
आनन्द स्वरूप वर्मा

विशेष कला सलाहकार
बिभास दास

नेपाल प्रतिनिधि
नरेश ज्ञवाली

संपादकीय संपर्क:
क्यू-63, सेक्टर-12
नोएडा (गौतम बुद्ध नगर) पिन: 201301
फोन: 0120-4356504/9810720714
ई मेल : teesaridunia@yahoo.com
vermada@hotmail.com
वेब साइट: www.teesariduniya.com

एक प्रति: 20 रुपये (भारत में)
30 रुपये (नेपाल में)
वार्षिक: 200 रुपये
आजीवन: 3000 रुपये

आनंद स्वरूप वर्मा द्वारा क्यू-63, सेक्टर-12, नोएडा से प्रकाशित तथा सागर प्रिंट ओ पैक, बी-46, सेक्टर-5, नोएडा से मुद्रित।
पंजीकृत कार्यालय: 14, सुविधा बाजार, सरोजनी नगर, नई दिल्ली-110 023

इस अंक में

नेपाल
नेपाल और कुछ सवाल — **आनंद स्वरूप वर्मा** — 2

कश्मीर
पत्रकार नसीर अहमद का इस्तीफा — **मीडिया विजिल** — 4
नन्हीं आंखें छीनने की रस्म — **निदा नवाज़** — 5

आवरण कथा-1
गाय की पूंछ पर टिका सामाजिक न्याय — **अभिषेक श्रीवास्तव** — 6
दलित भक्षक बनते गौ रक्षक — **प्रमोद मीणा** — 13
गाय (कविता) — **पाणिनि आनंद** — 15
दलित प्रश्न पर मार्टिन मैक्वान — **वैष्णा राय** — 17

आवरण कथा-2
कोलंबिया: 52 वर्ष के सशस्त्र संघर्ष का समापन — 19
कोलंबिया के फार्क छापामर — **माइकेल डी येट्स** — 20
भारतीय माओवादी और शांति वार्ता — **विश्वरंजन** — 23

हलचल
उत्तर प्रदेश कांग्रेस की कवायद — **अटल तिवारी** — 25

समरगाथा
इरोम शर्मिला (कविता) — **शोभा सिंह** — 30

कविता
मूर्खताओं की अमरता के दिन — **रंजीत वर्मा** — 32

विदेश
अमेरिकी चुनाव: त्रासदी में प्रहसन — **स्वदेश कुमार सिन्हा** — 34

प्रसंग
रघुराम राजन बनाम सुब्रमण्यम स्वामी — **अर्जुन प्रसाद सिंह** — 37

विमर्श
ज्ञान, शिक्षा तथा वर्चस्व — **ईश मिश्र** — 43

बातचीत
तेलुगु कवि वरवर राव से बातचीत — **रामू रामानाथन** — 49

स्मृति शेष
कॉमरेड रजुली देवी का निधन — 57

पुस्तक समीक्षा
स्वप्निल श्रीवास्तव की कहानियां — **कौशल किशोर** — 58

पत्रकार नसीर अहमद

जमीनी खबरें रोकने और फर्जी खबरें भेजने का दबाव

आइबीएन-7 के कश्मीर ब्यूरो हेड नसीर अहमद ने दिया इस्तीफा

पिछले दो साल से आइबीएन-7 में ब्यूरो प्रमुख रहे कश्मीर के सबसे पुराने टीवी पत्रकारों में एक नसीर अहमद ने 29 अगस्त को संस्थान से यह कहते हुए इस्तीफा दे दिया कि पत्रकारिता करने की जगह उनके ऊपर फर्जी खबरें चलाने का दबाव संपादकों की ओर से बनाया जा रहा है। उन्होंने एचआर को भेजे अपने इस्तीफे में उन खबरों को भी गिनवाया है जिन्हें संस्थान ने प्रसारित नहीं किया।

गौरतलब है कि नसीर अहमद ने आइबीएन-7 में आने से पहले करीब 16 साल का वक्त ब्यूरो प्रमुख के रूप में ज़ी न्यूज में गुजारा है। वे घाटी के सबसे विश्वसनीय पत्रकारों में एक रहे हैं, लेकिन पिछले कुछ दिनों से उनकी खबरें आइबीएन-7 में रोकी जा रही थीं और फर्जी खबरें भेजने का उनके ऊपर दबाव बनाया जा रहा था।

'मीडियाविजिल' से करीब आधे घंटे चली विस्तृत टेलीफोन वार्ता में नसीर अहमद ने बताया कि बुरहान वानी की हत्या के बाद उनसे कहा गया था कि वे ऐसी स्टोरी भेजें जिसमें उसकी लड़कियों के साथ तस्वीरें हों और वानी को ऐय्याश दिखाकर बदनाम किया जा सके। उन्होंने ऐसा करने से जब इनकार कर दिया, तो उनकी जगह जम्मू के रिपोर्टर से यह स्टोरी करवायी गयी। वे कहते हैं, ''मेरी बीट पर जम्मू के रिपोर्टर ने स्टोरी की। न कोई बाइट, न सुरक्षा बलों से बातचीत, न किसी का वर्जन, स्टोरी चला दी गई।''

नसीर बताते हैं कि उमेश उपाध्याय के दौर में इस तरह की दिक्कत नहीं थी लेकिन कश्मीर को लेकर खबरों की सारी समस्या प्रबल प्रताप सिंह के आने के बाद शुरू हुई। उन्होंने कहा, ''एक समय था जब मैं ज़ी न्यूज में ब्यूरो प्रमुख हुआ करता था और प्रबल प्रताप रिपोर्टर की हैसियत से कश्मीर आते थे। मुझे कोई दुराग्रह नहीं है, लेकिन जमीनी सच्चाई को दिखाना तो हमारा काम है। अगर इस संस्थान में रहकर मैं पत्रकारिता नहीं कर सकता तो मेरी जरूरत क्या है।''

इस्तीफे के बाद कश्मीर की समाचार एजेंसी सीएनएस से नसीर ने कहा है, ''चैनल को कश्मीर में मारे जा रहे नागरिकों की कोई चिंता नहीं है। उसका अपना एजेंडा है और दुनिया में कश्मीर की छवि खराब करने के इरादे से तथ्यों के साथ छेड़छाड़ कर रहे हैं।''

नसीर ने कहा, ''मैं आश्चर्यचकित था जब चैनल ने श्रीनगर शहर के एक एटीएम गार्ड की स्टोरी एयर करने से मना कर दिया। गार्ड जब ड्यूटी से घर लौट रहा था, तभी सीआरपीएफ ने पैलेट गन से उसकी हत्या कर दी थी। इस स्टोरी को एयर करने की बजाय चैनल ने मुझसे कहा कि कश्मीर में किसी घायल जवान को ढूंढकर उस पर स्टोरी तैयार करो। मैं हमेशा चैनल को तथ्यों पर आधारित स्टोरी भेजता था लेकिन उसने हमेशा छेड़छाड़ करने के अलावा उसमें आतंकवाद का एंगल घुसा कर स्टोरी प्रसारित की।''

नसीर ने बताया कि जब हालिया संकट के दौरान हेडलाइंस टुडे ने सैयद अली शाह गीलानी द्वारा पैसे देकर पत्थरबाजी कराए जाने वाली खबर चलायी, तो उनसे संपादकों ने कहा कि वे भी यह खबर भेजें। वे कहते हैं, ''मैंने साफ इनकार कर दिया और बताया कि वह वीडियो छह साल पुराना है।'' ध्यान रहे कि हेडलाइंस टुडे पर गौरव सावंत द्वारा फर्जी तरीके से चलाए गए 2010 के उस वीडियो की हकीकत सबसे पहले मीडियाविजिल ने ही उजागर की थी, जिसके बारे में बाद में राजदीप सरदेसाई ने खुद प्रेस क्लब के उस कार्यक्रम में पुष्टि की थी जो कश्मीरी प्रेस पर पड़े छापे के विरोध में आयोजित किया गया था।

नसीर कहते हैं कि आज कश्मीर की जनता के मन में मीडिया के प्रति काफी गुस्सा है। वे बताते हैं कि कश्मीर के किसी भी पत्रकार से आप बात कर लीजिए, तकरीबन सभी एक ही तरह की बात करेंगे। वे कहते हैं कि श्रीनगर के भीतरी इलाकों में जाने को उनसे कोई कहे तो वे इनकार कर देंगे क्योंकि अगर वे वहां गए, तो लोग उन्हें घेर लेंगे और पूछेंगे कि तुम झूठी खबरें क्यों चलाते हो। वे बताते हैं कि दिल्ली से बरखा दत्त श्रीनगर आई थीं और किसी तरह वे संकटग्रस्त इलाकों में दौरा कर आईं, वरना वहां के टीवी पत्रकारों की हालत ये है कि वे अपनी ओबी वैन अपने दफ्तरों के बाहर ही खड़ी रखते हैं।

नसीर ने कहा, ''मैं बीस साल से पत्रकारिता कर रहा हूं। नब्बे के दशक में जब कोई चैनल नहीं हुआ करता था, तब हालत यह थी कि लोग बीबीसी छोड़कर ज़ी न्यूज देखते थे। मेरी एक पत्रकार के तौर पर विश्वसनीयता है। अब उसे बचाए रखने के लिए इस्तीफा देने के अलावा और कोई रास्ता मेरे पास नहीं था।

('मीडिया विजिल' से साभार)

नन्ही आंखें छीनने की रस्म

(उन नन्हें-मुन्ने कश्मीरी बच्चों के नाम जिनको सुरक्षाकर्मियों ने पैलेट-गन का निशाना बना कर सदैव के लिए अंधा कर दिया)

निदा नवाज़

तुम निकल पड़े थे अपने अपने घर से
पकड़े अपने अब्बू की उंगली
अपनी अम्मी का फिरन
कि कहीं भीड़ में खो न जाओ
अपने नन्हे मन में जैसे यह संकल्प लिए
कि तुम्हारे अब्बू-अम्मी जब बूढ़े हो जायेंगे
तुम इसी तरह थाम लोगे उनके भी हाथ
बन जाओगे उनका भी सहारा
लेकिन तुम कहां जानते थे प्यारो
कि चौराहों पर यह फौजी अंकल
जैसे तुम्हारी ही प्रतीक्षा कर रहे थे
ताकि छीन लें तुम से
तुम्हारी छोटी-छोटी आंखों में पलने वाली
रोशनी की एक एक किरण
सदैव के लिए
एक पूरे समुदाय का भविष्य
अभी तुम्हारी आंखों में फूटी भी नहीं थीं
सपनों की हरी भरी कोंपलें
कहां अभी देखे थे इन्होंने इंद्रधनुषी रंग
अभी इन आंखों से कोसों दूर थे
दु:खों के आंसू
न ही अभी सीखा था इन्होंने पहचानना
अपने और पराये के बीच का अंतर
अभी इन आंखों की श्वेत दीवारों पर
तुमने नहीं लिखी थी पूरी अक्षरमाला तक भी
अभी इनमें बसी थी केवल
पिछली ईद पर अम्मी की लाई गुड़िया
अब्बू का लाया टेडीबीयर
और बापू गांधी के स्केच पर उभरी ऐनक
इन आंखों ने पिछले ही दिनों टी वी पर देखा था
भारत देश के स्वतंत्रता-दिवस का समारोह
लाल किले पर तिरंगा लहराने का दृश्य
सफेद कबूतर उड़ाने की परंपरा
लेकिन मेरे प्यारे बच्चो
अब तुम्हारे अब्बू की उंगली
तुमसे छूट गई है

और छूट गया है तुम्हारी अम्मी का फिरन
तुम सदैव के लिए अंधेरे की भीड़ में खो गए हो
जीवन-पन्नों के हाशियों पर आ गए हो
अब जब भी तुम भारत देश की करोगे कल्पना
एक गहरे अंधेरे का उभरेगा मानचित्र
चंद फौजियों की डरावनी परछाइयां
पैलेट गन की धमाकेदार आवाजें

और फिर अंतहीन गहरा अंधेरा
अब जब भी तुम करोगे कल्पना
भारत देश के लहराते तिरंगे की
तुम्हारे बेजान आंखों के मनकों पर
केवल उभरेगा काला सोगवारी रंग
लाल किले की फ़ज़ाओं पर बिखरते
सफेद कबूतरों के कटे पंख
और खून टपकती उनकी आंखें
बापू गांधी के स्केच पर
उभरी ऐनक के पीछे
झुर्रियों भरे चेहरे की ओट में
तुम्हे अब केवल दिखाई देगी
काले अक्षरों में लिखी लाल हिंसा। (27 अगस्त 2016)

ऊना की दलित अस्मिता रैली के स्थानीय और राष्ट्रीय निहितार्थ
'गाय की पूंछ' पर टिका नया सामाजिक न्याय

अभिषेक श्रीवास्तव-गुजरात से लौटकर

'समकालीन तीसरी दुनिया' के पिछले अंक में 'संघ की सरकार के दो साल और बढ़ता सामाजिक उबाल' शीर्षक के अंतर्गत किए गए विश्लेषण में इस लेखक की मान्यता थी कि ''फिलहाल दलितों का प्रतिरोध संघ के गले की हड्डी बना हुआ है और इसी को मुख्य अंतर्विरोध माना जाना चाहिए।'' उक्त लेख में कहा गया था कि ''संघ अपने निर्धार और राजनीतिक एजेंडे के बीच संतुलन बैठाने को कितना बेचैन है। इस संतुलन की कवायद में तनी हुई रस्सी पर चल रहे संघ ने जिस डंडे को पकड़ रखा है, उसके दो छोर स्पष्ट हैं- एक दलित और दूसरा मुसलमान।''

अगस्त में घटी घटनाओं और राष्ट्रीय स्तर पर विकसित राजनीतिक-सामाजिक विमर्श ने जैसी शक्ल ली है, उसके मूल में अब भी दलित और मुसलमान ही हैं। एक फर्क बस यह पड़ा है कि आरएसएस जिस सामाजिक ध्रुव को साधने में दो बरस से लगा था, भारतीय जनता पार्टी के विरोधियों ने भी अब उन्हीं पतवारों के सहारे अपनी चुनावी और राजनीतिक वैतरणी पार लगाने की ठान ली है। इस क्रम में 11 जुलाई को गुजरात के ऊना में गौरक्षकों द्वारा दलितों की पिटाई वाली घटना प्रस्थान बिंदु बनकर उभरी है, जिसने सामाजिक आंदोलन और राजनीतिक परिवर्तन के बीच की लकीर को एक झटके में धुंधला कर दिया है। ऐसे में दो सवाल खड़े हुए हैं। पहला, दलित प्रश्न पर फैला यह धुंधलका यूपी, पंजाब और गुजरात आदि के चुनावों में किसके काम आएगा? दूसरा सवाल यह है कि ऊना से उठी दलितों की आवाज और ''गाय की पूंछ तुम रखो, हमें जमीन चाहिए'' का राजनीतिक नारा सामाजिक बदलाव की दिशा में कितनी दूर तक जा पाएगा?

ये दो सवाल अलग-अलग हैं और इन्हें अलग-अलग बरता भी जाना चाहिए, लेकिन दिक्कत यह है कि जमीन के हालात और आंदोलन द्वारा प्रक्षेपित स्थितियों के बीच इतना बड़ा फर्क नजर आता है कि विश्लेषण के क्रम में दोनों बातें आपस में गड्डमड्ड हो जाती हैं। मसलन, ऊना से उठे दलित आंदोलन के युवा नेता जिग्नेश मेवाणी एक ओर तो बार-बार यह आग्रह करते हैं कि दलित आंदोलन का राजनीतिकरण नहीं होना चाहिए, लेकिन दूसरी ओर यह भी स्वीकार करते हैं कि वे जरूरत पड़ने पर निजी रूप से चुनावों में उतर सकते हैं। उनका कहना है कि उनके चुनाव लड़ने और आंदोलन के जारी रहने के बीच कोई विरोध नहीं है। चुनाव लड़ना

ऊना की जबर्दस्त रैली: 'गाय की पूंछ तुम रखो, हमें जमीन चाहिए'

रैली का एक बैनर

उनका निजी फैसला होगा, लेकिन आंदोलन को चुनावी राजनीति में तब्दील नहीं होने दिया जाएगा। यह चतुराई पहले भी बहुतों ने बरती है और सबसे हालिया उदाहरण इंडिया अगेंस्ट करप्शन नाम के भ्रष्टाचार विरोधी आंदोलन का दिया जा सकता है जिसके अगुवा चेहरों ने न सिर्फ राजनीतिक दल बनाया (आम आदमी पार्टी), लोकसभा और विधानसभा चुनाव लड़ा बल्कि आज वे दिल्ली में सरकार चला रहे हैं और दूसरे राज्यों में भी अपनी चुनावी महत्वाकांक्षा के पर फड़फड़ा रहे हैं। इस कथित स्वयं स्फूर्त आंदोलन के चुनावी पटरी पर आ जाने से सामाजिक आंदोलन को कितना नुकसान पहुंचा है, इसका अंदाजा शायद उन लोगों को हो जो जमीन पर काम कर रहे हैं और जिन पर अब जनता सहज विश्वास नहीं करती। आम आदमी पार्टी की परिघटना ने ऐसी स्थिति निर्मित कर दी है कि अगले कुछ साल तक तो इस देश में भ्रष्टाचार के खिलाफ कोई भी उभार होने से रहा और यदि हुआ भी, तो उसकी विश्वसनीयता अपने आप कठघरे में होगी।

संदेह और राजनीतिक विश्वासघात की ऐसी पृष्ठभूमि में जब 5 अगस्त, 2016 को अहमदाबाद से ऊना तक 'आजादी कूच' नामक पदयात्रा का आरंभ हुआ, तो सवाल उठता है कि इसके आयोजकों के मन में क्या चल रहा होगा? पांच दिन पहले 31 जुलाई को जिग्नेश मेवाणी ने अहमदाबाद में एक विशाल रैली कर के कथित रूप से 20,000 दलितों को संकल्प दिलवाया था कि ब्राह्मणवादी वर्ण व्यवस्था द्वारा दलितों के लिए तय किया गया गाय की खाल उतारने का काम वे आगे से नहीं करेंगे। इसी रैली से नारा निकला- 'गाय की पूंछ तुम रखो, हमें जमीन चाहिए'। जिग्नेश कहते हैं, ''दलित आंदोलन 'ब्राह्मणवाद मुर्दाबाद' के रेटॉरिक (जुमले) में फंस चुका था। हमने उसे खोल दिया।'' यह जानने के लिए कि दलित आंदोलन को पुराने जुमले से क्या वास्तव में मुक्त कराया गया या फिर उसे दोबारा एक नए जुमले में फंसा दिया गया, ऊना जाना जरूरी था।

रैली के आर और पार: ऊना गुजरात के पश्चिमी छोर पर नवनिर्मित जिले गिर सोमनाथ में खम्भात की खाड़ी के करीब स्थित और मछंदरी नदी के किनारे बसा एक मध्यम आकार का तालुका और कस्बा है। यह इतना भी छोटा नहीं है क्योंकि गुजरात की सभी तहसीलों के बीच सबसे ज्यादा गांवों की संख्या ऊना में ही है। यह विधान सभा क्षेत्र भी है जहां से विधायक कांग्रेस का है। गिर के जंगल यहां से करीब हैं और दमन एवं दीव द्वीप समूह का दीव यहां से महज 15 किलोमीटर की दूरी पर है, यानी अरब सागर के तट से ऊना इतना ही दूर है। सोमनाथ का ऐतिहासिक मंदिर यहां से करीब 85 किलोमीटर दूर समुद्र किनारे अरब सागर में है। क्षेत्र के हिसाब से देखें तो ऊना सौराष्ट्र में पड़ता है और इसका कुछ इलाका काठियावाड़ में आता है, जहां काठी दरबार नाम के क्षत्रियों की आजादी से पहले 250 से ज्यादा रियासतें हुआ करती थीं। आज भी यह जाति यहां

सबसे ताकतवर मानी जाती है। गिर सोमनाथ के जिलाधिकारी और सोनीपत निवासी हरियाणा काडर के युवा आइएएस डॉ. अजय कुमार इस जाति का परिचय देते हुए 'गोलियों की रासलीला-रामलीला' नामक फिल्म देखने की सलाह देते हैं।

इसी ऊना के मोटा समढियाला (गुजराती में मोटा का मतलब बड़ा होता है। यहां ऐसे छह समढियाला गांव हैं जिनमें मोटा समढियाला सबसे बड़ा है) गांव के चार दलितों को ऊना में सरेबाजार और दिनदहाड़े शिवसेना के गौरक्षकों ने पीटा था, जिसका वीडियो वायरल हो गया और यह घटना राष्ट्रीय फलक पर छा गई। गांव वाले बताते हैं कि 11 जुलाई, 2016 की सुबह बालूभाई के मोबाइल पर बाजू के गांव बेड़िया से अलग-अलग तीन लोगों ने फोन कर बताया कि उनके पशु मर गए हैं, उन्हें उठा ले जाओ। बालूभाई के मुताबिक उन्होंने अपने दोनों लड़कों तथा गांव के अन्य दो लड़कों को तैयार कर मरे पशुओं को उठाने के लिए भेज दिया। तबीयत खराब होने के कारण वे खुद नहीं गये। बालू भाई के दोनों लड़के तथा गांव के दो पड़ोसी लड़के बेड़िया गांव के तीनों घरों से मरे हुए पशुओं को उठा कर गांव के सीवान में लेकर आए जहां वे खाल उतारने का काम करते थे। मरे हुए पशुओं में दो गाय और एक बैल था। एक गाय तथा बैल बीमारी के कारण मरे थे जबकि एक गाय को 10-11जुलाई की रात शेर ने मार दिया था।

इस गांव में अकसर गिर के वनों से शेर आ जाते हैं और गायों को अपना शिकार बनाते हैं। स्थानीय लोग बताते हैं कि पिटाई का वीडियो सरपंच ने वायरल किया जो कांग्रेस पार्टी का है और पिटाई शिवसेना के लोगों ने की। शहर के तकरीबन सभी लोग जिनसे हमारी बात हुई, इस घटना की निंदा करते हैं और इसे सच बताते हैं, लेकिन उसे देखने का नजरिया अलग-अलग है। मसलन, नगरपालिका के सामने टैक्सी स्टैं ड पर अपनी टवेरा लगाकर सवारी के इंतजार में खड़े उसके मालिक मयूरभाई कहते हैं, ''मैं जब हॉस्टल में पढ़ने गया था तो लड़के पूछते थे कि कहां के रहने वाले हो। मैं जब ऊना कहता, तो वे पूछते कि ये कहां है। अब ऊना तो क्या, समढियाला तक को सारी दुनिया जानती है। चलो, किसी बहाने तो ऊना को

गिर, सोमनाथ के डी एम अजय कुमार

लोग जान सके।''

ऊना को राष्ट्रीय फलक पर स्थापित करने वाली दलित अस्मिता रैली, जो अहमदाबाद से 5 अगस्त को चली थी उसे 15 अगस्त को ऊना पहुंचना था और इसकी खबर शहर के हर शख्स को थी। जिलाधिकारी के मुताबिक आयोजकों ने रैली स्थल पर 85,000 लोगों के जुटने की अनुमति मांगी थी। अनुमति का आवेदन पीड़ित दलित परिवार बालूभाई के एक लड़के के नाम से प्रशासन को दिया गया था जबकि आयोजन की सारी देखरेख केवल सिंह नाम के एक शख्स को करनी थी, जिसने घटना के बाद इस परिवार की काफी मदद की थी। जिग्नेश केवल सिंह को ज्यादा नहीं जानते, सिवाय इसके कि वह बालूभाई के परिवार के साथ लगा हुआ था और 14 अगस्त की रात वह प्रशासन और दबंगों के दबाव में 'अंडरग्राउंड' हो गया। जिग्नेश ने बाद में यह भी बताया कि दबाव और डर से बालूभाई के बेटे ने अनुमति का आवेदन वापस ले लिया था। आखिरी मौके पर आयोजक के गायब हो जाने से अराजकता का आलम हो गया और जिग्नेश के मुताबिक 'इसी वजह से हम लोग घंटे भर के भीतर ही वहां से निकल लिए क्योंकि कांग्रेसियों और भाजपाइयों ने मंच पर कब्जा कर लिया था।''

रैली में बीस हजार से ज्यादा लोग रहे होंगे, लेकिन जिस सफाई से इतने लोग शहर के भीतर आए और एकाध घंटे के भीतर चुपचाप निकल भी गए, वह बताता है कि दलितों की इस रैली को कैसे दूसरी ताकतों ने अपने हक में इस्तेमाल कर डाला। रैली समाप्त होने के बाद जो मंज़र सामने आए और जिस तरीके से घर लौटते दलितों को रास्ते में रोककर बर्बर तरीके से पीटा गया, इसका विवरण अलग से बनता है लेकिन रैली के दो दिन पहले से ऊना में आतंक का जो माहौल निर्मित किया गया था जिसके चलते आयोजक को भूमिगत होना पड़ा और पीड़ित पक्ष को रैली की अनुमति का आवेदन वापस लेना पड़ा, उसे जानना ऊना की जमीनी स्थिति को समझने के लिए जरूरी है।

स्थानीय गुजराती अखबार, जिन पर अकसर सत्ता का मुखपत्र होने का आरोप लगाया जाता है, लगातार दलितों के उत्पीड़न की खबरें खोज-खोज कर 7 अगस्त से ही छाप रहे थे। ऐसी ही एक खबर 7 अगस्त के 'अहमदाबाद मिरर' में कवर पर छपी थी जिसमें पीयूष सरवैया नाम के एक दलित का जिक्र था जिसके भाई लालजी को चार साल पहले पिछड़ी जाति के दबंगों ने जिंदा जला दिया था। ऊना के बाजार में जिस दिन चार दलित युवकों की सरेआम गौरक्षकों ने पिटाई की, ठीक उसी दिन पियूष (24) और उनके पिता काला (65) जूनागढ़ की जेल से 18 दिन बाद रिहा हुए थे। इस दलित पिता-पुत्र का कसूर बस इतना था कि इन्होंने चार बरस की नाइंसाफी से तंग आकर 24 जून को आत्मदाह करने की लिखित चेतावनी राज्य की मुख्य मंत्री आनंदीबेन पटेल को दी थी। इसके तुरंत बाद इन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। कुल 18 दिन बाद जब 11 जुलाई को ये रिहा हुए, तब तक देश भर में ऊना की पिटाई का वीडियो वायरल हो चुका था।

इस बीच बीते महीने भर के दौरान दलित उत्पीड़न का मसला तो राष्ट्रीय स्तर पर उठ गया, लेकिन 14 अगस्त की शाम जब दलितों की विशाल यात्रा ऊना स्थित राठौड़ हॉल के प्रांगण में पहुंची, तो पीयूष उसमें शामिल नहीं हुए। वे दो दिन पहले से शहर के बीचोबीच लगी बाबासाहब आंबेडकर की प्रतिमा के नीचे अपने परिवार के 14 सदस्यों के साथ आमरण अनशन पर बैठे हुए थे। 'अहमदाबाद मिरर' के बाद गुजराती के चार स्थानीय अखबारों ने पीयूष के मामले पर बाद में खबर छापी, जिससे आसपास के गांवों के दलितों को भी इसकी खबर मिल सकी और वहां दूसरे उत्पीड़ित परिवारों का भी आना-जाना शुरू हो गया। सबको उम्मीद थी कि पीयूष के

केस के बहाने किसी तरह उन्हें भी इंसाफ मिले। इन्हीं खबरों के आधार पर और स्थानीय संपर्कों की मदद से ऊना पहुंचने से पहले ही पीयूष से हमारा संवाद हो चुका था। रैली से पहले दलितों की बाइक यात्रा पर हमले की पहली खबर 13 अगस्त की रात दस बजे के आसपास हमें पीयूष से ही प्राप्त हुई।

जिलाधिकारी के मुताबिक दलितों ने एक बाइक रैली निकालने के लिए 13 अगस्त को अनुमति मांगी थी। उन्हें इसकी अनुमति नहीं दी गई, लेकिन बाद में यह कहा गया कि वे चार से पांच के समूह में यात्रा निकाल सकते हैं। यह बाइक रैली जब काठी दरबारों के गांव सामतेर पहुंची, तो इस पर चौतरफा हमला हो गया। करीब 50 के आसपास घायल लोगों को 13 अगस्त की रात ऊना के सिविल अस्पताल में भर्ती करवाया गया। अगले दिन सुबह पीयूष से हमारी मुलाकात ऊना में होने तक अधिकतर घायल अस्पतताल से अपने-अपने घरों को जा चुके थे।

रैली से ठीक दो दिन पहले दलितों पर सुनियोजित हमलों की यह शुरुआत थी। आतंक का यह सिलसिला ऊना में अब तक नहीं थमा है। आखिरी खबर यह है कि ऊना से सटे अमरेली जिले के राजुला स्थित मालण गांव में एक गाय मर गई। यह ऊना रैली के हफ्ते

युवा नेता जिग्नेश मेवाणी

भर बाद की घटना है। गांव के सरपंच और दूसरे लोगों ने दलितों को गाय उठाने को कहा। दलितों ने इनकार कर दिया। इसके बाद सरपंच समेत तमाम दबंगों ने दलितों की पिटाई की। तीन दलित भावनगर के राजकीय अस्पताल में भर्ती हैं। उससे पहले रैली के तुरंत बाद ऊना के 24 गांवों ने अपने यहां दलितों के सामाजिक बहिष्कार का निर्णय ले लिया था और इस संबंध में अखबारों में सूचना छपवा दी थी।

ऊना के दलित नेता चंद्रसिंह महीडा ने 25 अगस्त को जन्माष्टमी के दिन फोन पर बताया, ''जन्माष्टमी का त्योहार होने के कारण थोड़ा सा माहौल संभला है। गांव के कुछ अच्छे लोग मामले को सुलटाने में लगे हैं। अभी दो दिन पहले जिलाधिकारी ने पीस कमेटी की बैठक बुलाई थी जिसमें भाजपा के भी लोग थे। उन्होंने शांति बनाए रखने की सबसे अपील की है, लेकिन घटनाएं तो रोज घट ही रही हैं।''

गाय और जमीन के बीच: क्या 2001 से अब तक गुजरात में घटी दलित उत्पीड़न की 14,500 घटनाओं (राज्य अपराध रिकॉर्ड ब्यूरो) के पीछे केवल गाय का हाथ है? गुजरात में सालाना 1000 से ज्यादा दलित उत्पीड़न की घटनाएं होती हैं यानी रोजाना औसतन तीन ऐसी घटनाएं गुजरात में होती हैं। यह सच है कि 11 जुलाई को समढियाला समेत 22 मई से लेकर अगस्त के तीसरे हफ्ते तक राजुला में हुए दोहरे हमले के पीछे गाय की खाल उतारना ही कारण रहा है। समढियाला में गाय की खाल उतारने के लिए दलित को मारा गया, तो राजुला में गाय न उठाने के लिए दलित को मारा गया। बावजूद इसके, दलित समाज को जानने वाले और उनके बीच काम करने वाले सौराष्ट्र के पुराने कार्यकर्ता और बुद्धिजीवी जो आंकड़े पेश करते हैं, वे चौंकाने वाली बात सामने लाते हैं।

सौराष्ट्र में दलित आंदोलन का इतिहास लिखने वाले अवकाशप्राप्त प्रोफेसर पी.जी.

दलित उत्पीड़न के विरोध में अपने परिवार के साथ आमरण अनशन पर बैठे पीयूष सरवैया

ज्योतिकर बताते हैं कि गुजरात के छह फीसदी दलितों में केवल 23 फीसदी चर्मकार हैं जिनमें बमुश्किल 10 फीसदी ही पशुओं की खाल उतारने के काम में लगे हैं। वे इस बात से सहमत हैं कि मरे हुए पशुओं की खाल उतारने का काम पूरी तरह से बंद होना चाहिए, लेकिन पूछते हैं, ''जो लोग इस नारे को आज फिर से उठा रहे हैं, उनके पास क्या दलितों के लिए आजीविका का कोई और विकल्प है? नहीं... यह तो दलितों का राजनीतिक दोहन है।''

ऊना रैली के समर्थकों का कहना है कि गाय का सवाल दलितों और मुसलमानों को एक कर सकता है। मुसलमानों का सवाल बाद में आएगा, लेकिन सबसे पहला सवाल दलितों को लेकर है जिनके बारे में खुद गुजरात के दलित कार्यकर्ताओं का दावा है कि गाय के मुद्दे पर वे एक नहीं हो सकते। चंद्रसिंह महीडा बताते हैं कि हर गांव में बमुश्किल दो-चार परिवार ऐसे बचे हैं जो गाय का काम करते हैं। खुद समढियाला गांव में, जहां के युवकों को पीटा गया, अकेले बालूभाई का परिवार गाय का काम करता है। उनके पड़ोसी बताते हैं कि उन्हें छोड़कर गांव के सभी दलितों ने गाय का काम छोड़ दिया है और इस पर किसी सवर्ण को कोई आपत्ति नहीं है। बिरादरी के लोगों ने बालूभाई को यह काम छोड़ने को काफी समझाया, लेकिन वे नहीं माने। फिलहाल, आसपास के करीब दसेक गांवों में पशु उठाने का 'ठेका' बालूभाई के पास है। एक पशु की खाल उतारने से 800 रुपये की कमाई होती है और इसके अलावा बालूभाई के परिवार में लड़की नर्स है जो अपनी आय परिवार को भेजती है। कुल मिलाकर बाकी दलितों से उनकी आर्थिक स्थिति बेहतर है। इसी बेहतरी के चलते उन्होंने अपने मकान के आगे की जमीन 'कब्जा' ली, जैसा कि गांव के लोग बताते हैं। इस वजह से उन्हें सरपंच का नोटिस मिल गया कि जमीन खाली करें। नोटिस 11 जुलाई से बमुश्किल महीना भर पहले थमाया गया था। उसके बाद से ही गांव के दबंगों की नजर उनके ऊपर थी।

दलित उत्पीड़न के अलग-अलग मामलों को देखा जाए, तो पता चलता है कि गुजरात के गांवों में दलितों का सीधा संघर्ष नए भूस्वामी बने ओबीसी समुदाय के साथ है और केंद्रीय मुद्दा जमीन का है। इसे दो उदाहरणों से समझा जा सकता है। चार साल पहले पीयूष सरवैया के भाई लालजी को कोली पटेल जाति के कुछ लोगों ने जिंदा जला दिया था। लालजी के बड़े भाई की पत्नी ने वह हादसा अपनी आंखों से देखा था। वह ज्यादा दिन इस सदमे को बरदाश्त नहीं कर सकी और 10 दिन बाद उसने दम तोड़ दिया। मुसीबतें यहीं खत्म नहीं हुईं। इसके बाद पीयूष के परिवार को गांव से निकाल दिया गया और 15 बीघा जमीन पर खेती करने से रोक दिया गया। भाई की हत्या के दोषियों के बतौर पीयूष ने 21 लोगों की पहचान की थी, लेकिन पुलिस ने केवल 11 लोगों को गिरफ्तार किया। बाकी के बारे में पुलिस का कहना था कि सभी 21 को पकड़ने से केस कमजोर हो जाएगा।

अमरेली जिले के जामका गांव निवासी वीराभाई के साथ इससे भी बुरा हुआ। उनके और उनकी पत्नी के ऊपर 350 कोली पटेलों ने हमला किया और पिटाई की। इसके बाद उन्हें गांव से निकाल दिया गया और 20 बीघा जमीन पर खेती करने से रोक दिया गया। चार साल इस घटना को हो गए लेकिन आज तक एक भी गिरफ्तारी नहीं हुई। वीराभाई कहते हैं, ''केवल तारीख लग रही है।'' ऐसा कहते हुए वे एफआइआर की प्रति दिखाते हैं और पत्नी से मिलवाने की बात करते हैं। दोनों

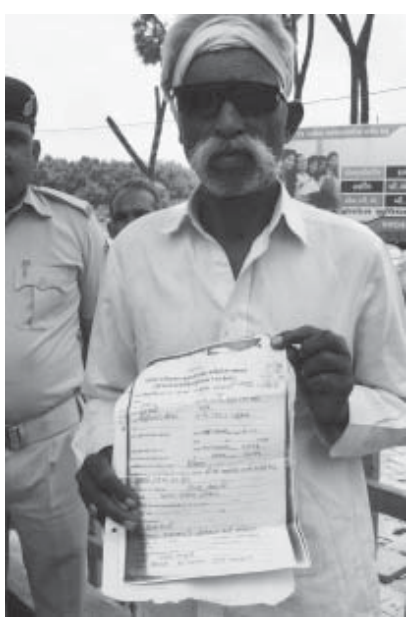

एफआइआर की प्रति दिखाते वीरा भाई

ही मामलों में आधार लड़की को बनाया गया। लालजी के ऊपर एक कोली पटेल बिरादरी की लड़की को गायब करने का आरोप लगाया गया, जो उसकी हत्या के तीन दिन बाद अचानक वापस आई और उसने मृतक से कोई भी परिचय होने से इनकार कर दिया। वीराभाई का लड़का मधु चार साल पहले एक दिन कोली पटेल बिरादरी की लड़की काजल के साथ गायब हो गया, जिसके बाद उनके ऊपर हमला हुआ। लड़का और लड़की का अब तक कोई सुराग नहीं मिला है।

गिर सोमनाथ के जिलाधिकारी डॉ. अजय कुमार बताते हैं कि गुजरात में दलितों को जब उनके गांवों से उच्च जाति के लोग निकाल देते हैं (स्थानीय भाषा में इसे हिजरत कहते हैं), तो अनुसूचित जाति उत्पीड़न कानून के तहत उन्हें 'आंतरिक विस्थापित और पलायित' मान लिया जाता है। भूमिहीन दलितों को ऐसे में किसी और जगह जमीन देने का प्रावधान है। पीयूष के परिवार के संबंध में कुमार कहते हैं, ''एक तो वह जमीन का हकदार नहीं था। फिर उसे जमीन मिली तो अब वह ट्रैक्टर की और लेवेलिंग की मांग कर रहा है।'' हकीकत यह है कि पीयूष के परिवार को ऊना से तीन किलोमीटर दूर देलवाड़ा गांव में जमीन देने का आदेश तो पहले हो चुका था लेकिन ज़मीन अब तक नहीं मिल सकी है। स्थानीय अखबारों में 13 अगस्त को खबर आई थी कि यह जमीन दिए जाने का आश्वासन उसके परिवार को प्रशासन ने दे दिया है। पीयूष उसके बावजूद अनशन पर बैठे रहे क्योंकि जमीन पर कब्जा लेना दलित के लिए इतना आसान नहीं होता और आवंटन केवल कागजी काम होता है।

रैली के बाद 18 अगस्त को जब अनुसूचित जाति आयोग के अध्यक्ष पीएल पुनिया ऊना पहुंच कर उनसे मिले और जिलाधिकारी की ओर से जमीन के कागजात उन्हें सौंपे गए, तब जाकर पीयूष ने अपना अनशन समाप्त किया। फिलहाल वे ऊना में ही अपने परिवार के 14 लोगों के साथ किराये के मकान में रह रहे हैं और प्रशासन ने अगले 30 दिन में उन्हें जमीन पर कब्जा दिलवाने का वादा किया है।

जिग्नेश इस समस्या को समझते हैं, तभी उन्होंने अपने मांगपत्र में दलितों को जमीन दिए जाने की बात उठायी है। उन्होंने

गुजरात सरकार को अल्टीमेटम दिया है कि अगर 15 सितंबर तक गुजरात के भूमिहीन दलितों को जमीन नहीं दी गई, तो वे 'रेल रोको' आंदोलन शुरू कर देंगे। इस बारे में वे कहते हैं, ''गुजरात में इफरात जमीनें हैं। अगर सरकार अडानी और अंबानी को जमीन दे सकती है तो दलितों को क्यों नहीं।'' उनकी बात राज्य के दलित आंदोलनकारियों को ठीक जान पड़ती है, लेकिन इसके लिए एक तारीख मुकर्रर कर देने की राजनीति उनके गले नहीं उतरती। चंद्रसिंह कहते हैं, ''अगर जमीन मुद्दा था तो 'गाय की पूंछ' वाला नारा क्यों दिया गया। इससे तो होगा ये कि दलितों को जमीन मिले न मिले, लेकिन गाय के नाम पर उनका उत्पीड़न जरूर तेज हो जाएगा और जिनकी भी आजीविका गाय से चलती है, उनके सामने संकट खड़ा हो जाएगा। जमीन की लड़ाई लंबी लड़ाई है जो नारों से नहीं लड़ी जा सकती। सबसे पहले गांवों में सामाजिक संवाद कायम किया जाना होगा ताकि दलित सुख-चैन से सबके साथ रह सकें। रैली के बाद जिस तरह से हमले बढ़े हैं, वह दिखाता है कि इससे ऊंची जातियों में संदेश गलत चला गया है। बात दलितों के अधिकारों की होनी थी, उलटे ऊंची जातियों में यह संदेश चला गया कि बात उनके खिलाफ हो रही है।''

भूमि सुधार और आरक्षण: ताजा दलित उभार में जमीन की मांग का जो अल्टीमेटम गुजरात सरकार को दिया गया है, उससे ऐसा प्रतीत होता है कि आज तक इस दिशा में कोई गंभीर काम नहीं हुआ। यह बात सच नहीं है। सौराष्ट्र का इतिहास देखें तो पता चलता है कि वहां परंपरागत रूप से सामंती क्षत्रिय भूस्वामी हुआ करते थे और पटेल जमीन जोतते थे जबकि ब्रिटिश गुजरात में पटेल भूस्वामी थे और क्षत्रिय जोताई का काम करते थे। दोनों ही मामलों में दलित भूमिहीन मजदूर हुआ करते थे। *गुजरात में भूमि सुधार के कार्यान्वयन पर रिपोर्ट* में अमीर रज़ा कहते हैं, ''भारत सरकार द्वारा गठित कृषि सुधार आयोग की सिफारिशों पर सौराष्ट्र की सरकार ने सौराष्ट्र भूमि सुधार कानून, 1951, सौराष्ट्र बारखाली उन्मूलन कानून, 1951 और सौराष्ट्र एस्टेट अधिग्रहण कानून, 1952 बनाया। इन कानूनों का उद्देश्य जमीन का स्वामित्व जोतने वाले को देना था और बाकी सभी पट्टों को समाप्त करना था।

चंद्रसिंह माहिदा

इन कानूनों ने सभी भूस्वामियों को नकद में भूराजस्व भुगतान करने के मामले में बराबर जवाबदेह बना दिया। सौराष्ट्र की सरकार ने सौराष्ट्र में काफी कठोरता से भूमि सुधार लागू किया और पूववर्ती रियासतों से भूमि के अधिकारों का हस्तांतरण किया। नतीजा यह हुआ कि यहां हुए भूमि सुधार ने स्थानीय सत्ता संरचना में बदलाव कर डाला। राजपूत भूस्वामियों की जमीनें छिन गईं जो अपेक्षाकृत गरीब पटेलों के पास चली गईं। सौराष्ट्र और कच्छ में 12 लाख हेक्टेयर से ज्यादा जमीन जोतदारों के पास चली गई। अधिकांश लाभार्थी पटेल ही थे, जो कालांतर में आर्थिक व राजनीतिक रूप से प्रभावशाली होते गए।

इसी के समानांतर सरकार ने एक समग्र भूमि कानून का गठन किया जिसका नाम था 'बॉम्बे टेनेंसी ऐंड एग्रिकल्चरल लैंड्स ऐक्ट'। यह बात अलग है कि सौराष्ट्र के तीनों कानूनों के मुकाबले ये वाला कानून बॉम्बे सरकार ने ब्रिटिश गुजरात में लागू नहीं किया। इसी वजह से हम सौराष्ट्र-कच्छ और बाकी गुजरात में जमीन के मालिकाने के पैटर्न में एक बड़ा फर्क पाते हैं।

गुजरात के आरक्षण विरोधी आंदोलन पर एसीपीडीआर की तथ्यान्वेषी रिपोर्ट में गुजरात के भूमि सुधार पर जीवनलाल जयरामदास के दिए कुछ अहम आंकड़े शामिल हैं। रिपोर्ट कहती है कि ''1.9.1961 से 15.6.1976 के बीच 1234 दलितों को 5361 एकड़ जमीन आवंटित की गई थी। यह भू-हदबंदी कानून के तहत सरप्लस घोषित की हुई भूमि थी। इसके अलावा सरकार की ओर से 66,276 दलितों को 398025 एकड़ (वेस्ट लैंड) बंजर भूमि आवंटित की गई थी। ऐसा आंशिक तौर पर इसलिए रहा होगा क्योंकि इन कानूनों से प्रतिकूल रूप से प्रभावित होने वाले पटेल, बनिया और ब्राह्मण भूस्वामियों का सत्ताधारी कांग्रेस पार्टी और शासन पर वर्चस्व था। तमाम सवर्ण और मध्यवर्ती जातियों के लोगों ने अपनी ही जाति के उन लोगों की बेनामी जमीनों पर कब्जा कर लिया था जो शहरों में चले गए थे। निचली जाति के पास ऐसी सुविधा नहीं थी। जमीन के माध्यम से आत्मसम्मान और सामाजिक रसूख हासिल कर चुके पटेलों को दलितों को जमीन देना रास नहीं आया, सो उन्होंने दलितों को भूस्वामी बनने से रोकने के लिए धनबल और बाहुबल का प्रयोग किया। इस तरह हुआ ये कि जहां कहीं जमीनें दलितों को दी गई थीं, वहां भौतिक रूप से उन्हें जमीनों को जोतने के अधिकार नहीं मिल सके। ऐसी स्थिति में दलितों के पास आरक्षण के सहारे के अलावा और कुछ नहीं बचा।

ये बात अलग है कि आरक्षण की बैसाखी ने गुजरात के दलितों के लिए एक अदृश्य वरदान का काम किया और उन्होंने अपनी लड़ाई के लिए साक्षरता व शहरीकरण को औजार बना लिया। घनश्याम शाह लिखते हैं, ''1980 तक गुजरात के दलितों में साक्षरता दर औसत राष्ट्रीय साक्षरता दर के बराबर पहुंच चुकी थी और आरक्षण के चलते उनके बीच प्रशिक्षित स्नातकों की संख्या में भी काफी इजाफा हुआ था। प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा में दलितों के बच्चे पटेलों को टक्कर दे रहे थे।'' आरक्षण विरोधी आंदोलन पर अपनी पुस्तक में वे कहते हैं कि 20वीं सदी के आखिरी दशक तक ''25 साल की उम्र से कम के दलित कामगारों में कोई भी निरक्षर नहीं बचा था। युवा दलित कामगार, उनके बच्चे आदि पिछड़ों और मुसलमानों के बच्चों से बेहतर प्रदर्शन कर रहे थे और सवर्ण जातियों के बराबर पहुंच चुके थे।'' अच्युत याग्निक 2002 में लिखते हैं, ''अपनी आर्थिक स्थितियों के आधार पर दलितों के बीच कुछ समूह मध्यवर्ग का हिस्सा बन चुके थे।''

इस तरह हम देखते हैं कि गुजरात में दलितों का आंदोलन ज़मीन और आरक्षण दोनों मुद्दों को साथ लेकर चलता रहा है और

यहां के गांवों में दलितों के साथ होने वाले जातिगत उत्पीड़न की प्रकृति पंजाब, हरियाणा, यूपी या बिहार से बुनियादी तौर पर भिन्न है। इसीलिए सौ साल के सक्रिय दलित आंदोलन के इतिहास में यहां के दलितों ने विशुद्ध आंबेडकरवादी तरीके से लड़ाई लड़ी है, खुद को शिक्षित किया है और एक वर्ग के तौर पर अपना वर्गांतरण करने की कोशिश की है। शायद यही वजह है कि गांवों और शहरों की दलित आबादी की सोच और सरोकार यहां बिलकुल भिन्न है और शहरीकरण की ओर बढ़ते गांवों में दलित अपने परंपरागत पेशे से मुक्त हो सका है। ऐसे में अचानक उठाया गया 'गाय की पूंछ' का नारा सभी दलितों को एकजुट करने में भी कारगर नहीं है, दलित-मुस्लिम एकता की तो बात ही छोड़ दें। ऊना की घटना के बाद हुआ ताजा उभार इस मामले में इतिहासबोध से पूरी तरह मुक्त है और जमीनी सच्चाइयों से कटा हुआ है।

रैली के बाद हिंसक घटनाएं बढ़ने संबंधी चंद्रसिंह का निष्कर्ष एक स्तर पर सही है। दरअसल, दलितों को जमीन जोतने का भौतिक अधिकार मिल भी जाए तो उन्हें रहना उसी गांव-समाज में है जहां उनकी हैसियत संख्या बल के हिसाब से नगण्य और प्रभावहीन है। इसलिए सह-अस्तित्व की पहली शर्त यह है कि गांव के समाज में कोई नफरत और मनमुटाव न हो। 15 अगस्त की रैली ने इस स्थिति को आने वाले लंबे समय तक बदल डाला है क्योंकि जमीन की मांग के पीछे 'गाय की पूंछ' का बेमेल नारा लगाया गया है जो ब्राह्मणवादी वर्ण व्यवस्था से दलितों को पूरी तरह अलग-थलग करने का आभास देता है, जबकि हकीकत यह है कि गुजरात में बिना यह नारा लगाए दलित अपने आप इस पेशे से धीरे-धीरे मुक्त हो चुका है और उसका वर्ग बदल रहा है। इस पर किसी को कोई आपत्ति भी नहीं थी, लेकिन अब गाय उठाने पर भी आपत्ति है और गाय उठाने से इनकार करने पर भी मार पड़ रही है। कुल मिला कर हुआ यह है कि गाय की पूंछ जो सवर्णों को अचानक पकड़ा दी गई है, उसके सहारे वे अपने तरीके से दलितों को अब नचा रहे हैं।

लोकतंत्र के तकाजे: गुजरात का परंपरागत दलित आंदोलन इस खतरे को समझ रहा है क्योंकि वह संख्या के आधार पर दलितों की ताकत को जानता है। यहां करीब सात फीसदी दलितों की राजनीतिक नुमाइंदगी कभी प्रभावशाली नहीं रही। गुजरात के चुनावों का जिक्र हमेशा पाटीदारों और पटेलों के संदर्भ में किया जाता रहा है, कभी-कभार ऊंची जातियों का जिक्र आता है और कुछ जगहों पर आदिवासियों की बात आ जाती है। दलितों को यहां राजनीतिक दल अपना वोटबैंक नहीं मानते। उनकी संख्या न केवल कम है, बल्कि राज्य भर में उनका प्रसार कुछ इस तरह है कि वे अधिकतर चुनाव क्षेत्रों में परिणामों को प्रभावित करने की हैसियत नहीं रखते। गुजरात में केवल 13 असेंबली सीटें दलितों के लिए आरक्षित हैं। इतना ही नहीं, अकेले दानिलिमड़ा असेंबली सीट ऐसी है जहां दलित कुल मतदाताओं के 20 फीसदी से ज्यादा हैं वरना अन्य 10 सीटों (असारवा, ठक्करबा, वडगाम, इदर, अमराइवाड़ी, घांडीढ़, कोडिनार, लामलपुर, ढोलका और थराड़) पर दलित कुल मतदाताओं के 15-19 फीसदी के बीच हैं। बाकी 30 असेंबली सीटों पर दलित मतदाता 10 से 15 फीसदी के बीच ही हैं।

चूंकि प्रत्येक असेंबली में मतदाताओं की संख्या दो लाख से थोड़ी ज्यादा है, लिहाजा मोटे तौर पर 40 असेंबली सीटों पर दलित मतदाता औसतन 20,000 के आसपास पड़ते हैं। यह संख्याह 2012के असेंबली चुनाव में जीत के औसत मार्जिन से भी कम है। यह ध्यान देने वाली बात है कि जीत का औसत मार्जिन जो 2002 में 17,500 था, वह 2007 में बढ़कर 18,896 और 2012 तक आते-आते 21,663 पर पहुंच गया। यह भी ध्यान देने वाली बात है कि कांग्रेस के लिए जीत का औसत मार्जिन जहां करीब 10,000 रहा है (2012 में अधिकतम 13,577) वहीं बीजेपी के लिए यह कहीं ज्यादा रहा है। इससे यह साबित होता है कि अगर सारे दलित मतदाता एकतरफा तरीके से बीजेपी के खिलाफ वोट कर दें, तब भी वे चुनाव परिणाम पर असर नहीं डाल सकते। (सभी आंकड़े सीएसडीएस के अध्ययन से)

शायद यही वजह है कि यहां के दलित आंदोलनकारियों ने बदलाव के लिए कभी भी चुनाव का मुंह नहीं देखा और वे लगातार सामाजिक-सांस्कृतिक आंदोलन में यकीन करते रहे। चंद्रसिंह महीडा बताते हैं, ''साठ के दशक में सौराष्ट्र में अमीरभाई, मनोहरदास सोलंकी, नानजीभाई जैसे लोगों ने घर-घर जाकर आंबेडकर का संदेश फैलाया। यह उनकी विरासत है कि आज गुजरात के समाज में नब्बे फीसदी दलित अपने परंपरागत काम को छोड़कर मजदूरी और दूसरे काम कर रहा है। हम मानते हैं कि दलितों को ब्राह्मणवाद से मुक्त करने का काम सामाजिक-सांस्कृतिक है, न कि राजनीतिक। चुनावी राजनीति हमारा इस्तेमाल कर ले जाएगी, हम इस खतरे को अच्छे से समझते हैं।''

यहां दलित आंदोलन से जुड़े तमाम लोगों का मानना है कि ऊना में 11 जुलाई को चार दलित युवकों की सवर्णों द्वारा की गई पिटाई के महज दो माह के भीतर बुलाई गई पदयात्रा का मकसद चुनावी राजनीति है। दूसरी ओर 'आजादी कूच' का आवाहन करने वाले युवा जिग्नेश दावा करते हैं कि यह रैली 'अराजनीतिक' थी। दरअसल, इस घटनाक्रम को सोशल मीडिया और अन्य माध्यमों से समझ रहे लोगों के सामने संकट यह है कि वे या तो इस ताजा दलित उभार के अंधसमर्थन में हैं अथवा विरोध में, जबकि दलित राजनीति के जमीनी चेहरों से वे बिलकुल भी वाकिफ नहीं है। 15 अगस्त की रैली का सच बहुत धुंधला है। उसे पकड़ने के लिए थोड़ा पीछे जाना होगा, लेकिन संकट यह है कि गुजरात में दलित राजनीति का इतिहास सार्वजनिक तौर पर आसानी से उपलब्ध नहीं है। वह यहां के दलित साहित्य में बेशक भरपूर संग्रहित है, पर वहां भाषायी अड़चन है।

गुजरात में दलितों के बीच काम करने वाले संगठनों की लंबी फेहरिस्त रही है। कांग्रेस का मजदूर महाजन संघ, आर्य समाज, आंबेडकर का बनाया शेड्यूल कास्ट फेडरेशन, कांग्रेस का हरिजन सेवक संघ, बौद्ध महासंघ आदि तमाम संगठनों के मिलेजुले काम ने यहां बीते अस्सी साल में दलितों की चेतना को जागरूक करने का काम किया है। बड़ौदा के महाराजा सयाजीराव गायकवाड़ ने तो 1882-83 में ही यहां सभी के लिए अनिवार्य शिक्षा का प्रावधान कर दिया था और बड़ौदा, नवसारी, पाटन व अमरेली में चार अंत्यज

(शेष पृ. 59 पर)

दलित भक्षक बनते गौ रक्षक

प्रमोद मीणा

मोदी के नेतृत्व में होने वाले पूंजीवादी बुर्जुआ विकास और हिंदुत्व की जटिल खिचड़ी पकाने वाला गुजरात मुस्लिम और दलित अल्पसंख्यकों के प्रति अपनी अनुदारता के लिए कुख्यात रहा है। यह अलग बात है कि भाजपा के सुदीर्घ शासन में मीडिया पर जबर्दस्त नाकेबंदी के कारण और अपने अस्तित्व के लिए हिंदुत्व के रहमोकरम पर निर्भर रहने के कारण ये अल्पसंख्यक समुदाय उतने मुखर नहीं हो पाते। भाजपा को चुनौती देने वाला राजनैतिक विकल्प अनुपस्थित रहने से भी यहां के अल्पसंख्यक विकास के इस हिंदुत्ववादी मॉडल के खिलाफ उस तरह से आवाज नहीं उठा पाते, जैसे उन्हें उठानी चाहिए। लेकिन पटेल आंदोलन के बाद जिस तरह भाजपा की अजेयता का तिलस्म टूटा है और वह स्थानीय निकाय चुनावों में लड़खड़ाई है, उससे यहां के दमित अल्पसंख्यकों में भी उम्मीद की किरण जागी है कि भाजपा के अश्वमेध घोड़े की लगाम खींची जा सकती है।

यह भी ध्यातव्य है कि मुस्लिमों के खिलाफ दलितों का हिंदुत्वीकरण करके भाजपा ने गुजरात में दलित राजनीति को पनपने से रोकने में अभी तक चाहे सफलता पाई हो लेकिन गुजरात का वर्तमान दलित असंतोष दिखलाता है कि धीरे-धीरे देश के अन्य राज्यों के दलितों की तरह गुजरात के दलितों में भी अपने स्वाभिमान और अधिकारों को लेकर चेतना पैदा हो रही है। यद्यपि गुजरात का मीडिया भी अन्य राज्यों के मीडिया की तरह धनपतियों के हाथों में है और तिस पर उसका भगवाकरण भी हो चुका है किंतु आज सोशल मीडिया ने गुजरात के दलितों को वह मंच प्रदान कर दिया है कि वे अपने साथ होने वाले अन्याय और दमन को अन्य दलित भाइयों के साथ साझा कर सकें। गुजरात की बदली राजनीतिक फिजां, वहां के दलितों में उभरी अंबेडकरवादी चेतना और उनके पढ़े-लिखे तबके की सोशल मीडिया तक पहुंच आदि के संदर्भ में ही आप 11 जुलाई की दलित उत्पीड़न की घटना की प्रतिक्रिया में गुजराती दलितों के फूट पड़े आक्रोश और उनके आक्रामक आंदोलनकारी तेवरों को समझ सकते हैं। गुजरात के वैष्णव परिवेश में गांधीवाद के प्रभाव के कारण अंबेडकरवादी दलित आंदोलनधर्मिता ज्यादा नहीं पनप सकी थी लेकिन जब से भाजपा की सरकारें एक के बाद एक यहां बनने लगीं तभी से राज्य प्रशासन पर ब्राह्मणवादी ताकतों की पकड़ और भी मजबूत होती चली गई। और इसी के साथ गुजराती समाज की जो एक प्रकार की धार्मिक उदारतावादी सोच रही थी, उसमें जातीय असहिष्णुता और सांप्रदायिकता का जहर भयावह ढंग से घुलता चला गया। यह सर्वविदित तथ्य है कि भाजपा और उसके मातृसंगठन राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ का अंतिम लक्ष्य ब्राह्मणवादी हिंदू राष्ट्र की स्थापना है जिसमें घोषित-अघोषित रूप से दलित समेत तमाम अल्पसंख्यक समुदाय द्वितीय श्रेणी की नागरिकता के हाशिये पर ढकेल दिये जायेंगे। वैसे वे आज भी हाशिये पर ही हैं, हां वैधानिक दृष्टि से वे अवश्य् समान रूप से इस राष्ट्र के नागरिक हैं। अस्तु, इस पूरे माहौल में गुजरात के अंदर दलितों के प्रति सवर्णों का भेदभाव और क्रूरता पिछले कुछ दशकों से अपने चरम पर पहुंच चुकी है जिसके चलते वहां के दलित रोष से भरे हुए हैं। विगत ग्यारह जुलाई को सौराष्ट्र के उना कस्बे के निकट स्थित गांव मोटा समधियाल में गौरक्षक निगरानी समिति के नेतृत्व में चालीस-पचास लोगों ने कुछ दलितों को मृत गाय का चमड़ा उतारने के आरोप में सजा देने के लिए जिस प्रकार खुलेआम उन्हें नंगा करके, हाथ-पैर बांध कर बुरी तरह से लाठी-डंडों से पीटा, उनका जुलूस निकाला, उसने वहां के दलितों के अंदर खौल रहे लावे को बाहर फूट पड़ने का मौका दे डाला। अपने इस जघन्य अमानवीय कृत्य को न्यायोचित ठहराने के लिए बेकसूर दलितों पर हमलावरों ने चमड़े के लिए गाय को मारने का झूठा आरोप भी लगाया। मोटा समधियाल में हुई इस दलित उत्पीड़न की घटना की प्रतिक्रिया में लगभग पूरा गुजरात दलित आंदोलन का गवाह बनता है। दलित आक्रोश की तपिश इस राज्य के बाहर भी महसूस की जा सकती है। मनुवादी गौ रक्षकों की इस हिंसा के विरोध में अन्य राज्यों में भी धरने प्रदर्शन होते हैं। यहां तक कि इसकी गूंज संसद के दोनों सदनों में भी सुनी जा सकती है। विपक्षी नेताओं के विरोध के चलते संसद बार बार बाधित होती है। 1985 के बाद पहली बार गुजरात इस प्रकार के दलित उबाल का गवाह बना है।

गुजरात का वर्तमान दलित असंतोष अपने प्रभाव क्षेत्र और गहराई में बहुत व्यापक है। इस दलित आंदोलन की खासियत यह है कि यह एक व्यवस्थित ढंग से चलाया गया आंदोलन है जिसमें विभिन्न रंगढंग दिखाई देते हैं। आंदोलनकारियों ने अपने विरोध प्रदर्शन के लिए विभिन्न तरीके अपनाये। जहां जैसी स्थिति थी, जिसको जैसा ठीक लगा, जिसकी जैसी क्षमता थी, वहां दलितों ने उसी तरह अपना रोष व्यक्त किया। दलित संगठनों के आह्वान पर आयोजित बंद का व्यापक प्रभाव सौराष्ट्र क्षेत्र में दिखाई पड़ा। बाजार और शिक्षा संस्थान बंद रहे। कई जगह राजमार्गों को बाधित किया गया। पुलिस बल पर पथराव की भी खबरें आईं। इसी प्रकार के पथराव में एक पुलिस वाला भी हताहत हो गया। कई जगह उग्र आंदोलनकारियों की भीड़ को तितर-बितर करने के लिए पुलिस को आंसू गैस के गोले भी छोड़ने पड़े। आंदोलनकारियों ने सरकारी संपत्ति को भी नुकसान पहुंचाया। सरकारी बसों और पुलिस वाहनों के साथ गुस्साई भीड़ ने तोड़फोड़ की। कई सरकारी बसें आंदोलनकारियों के हाथों स्वाहा भी हो गईं। मजबूरन स्थानीय प्रशासन को कई जगह बसों का संचालन रोकना पड़ा। रेलगाड़ियों को भी आंदोलनकारियों ने बाधित करने का प्रयास किया। हिंसा के इस लाल रंग के अलावा इस दलित आंदोलन में कुछ अभिनव प्रयोग भी देखने को मिले जिन्हें एक प्रकार का असहयोग

भी कहा जा सकता है, जैसे सरकारी अधिकारियों के कार्यालयों के सामने मृत जानवरों का फेंका जाना। लेकिन इस आंदोलन का जो पहलू सबसे ज्यादा चिंतनीय है, वह है दलितों का राज्य और सवर्ण हिंदू समाज से पूर्ण मोहभंग। और इसी मोहभंग की चरम परिणति हम इस आंदोलन के दौरान दो दर्जन से भी ज्यादा आत्महत्या के मामलों के रूप में देख सकते हैं। ऐसे ही आत्महत्या के प्रयास में एक आंदोलनकारी की मौत भी हो गई।

निश्चय ही इन दलित आंदोलनकारियों ने कानून व्यवस्था के समक्ष खुली चुनौती पेश की है लेकिन इस आंदोलन का जवाब पुलिसिया हिंसा और ताकत नहीं हो सकती। गुजरात सरकार को भी इस आंदोलन के प्रति व्यापक साकल्यकवादी रणनीति अपनानी चाहिए। उना की इस नृशंसता के शिकार दलितों को आप तभी आश्वस्त कर पायेंगे जब आरोपी हमलावरों को पकड़ कर उन्हें समुचित सजा दिलवाई जा सके। राज्य पुलिस ने कुछ लोगों को गिरफ्तार भी किया है लेकिन इस हिंसा के बहुत से आरोपी अभी भी पुलिस की पकड़ से दूर हैं। स्थानीय प्रशासन को यह भी सुनिश्चित करना होगा कि हिंसा के शिकार इन दलितों को गौरक्षकों की संभावित बदले की कार्रवाई से बचाया जा सके और यह भी देखना होगा कि इस प्रकार की दलित विरोधी हिंसा की पुनरावृत्ति न हो। आज समस्त दलितों को विशेषत: चमड़े और गोश्त से जुड़े धंधों से रोजीरोटी चला रहे दलितों को यथोचित सुरक्षा की तत्काल बेहद जरूरत है। वैसे वास्तव में यह घटना कानून व्यवस्था का मसला होने के साथ-साथ दलित और अल्पसंख्यक विरोधी ब्राह्मणवादी घृणा की भगवा राजनीति का भी सीधा-सीधा उत्पाद है। ब्राह्मणवादी ताकतें सरकार की मौन सहमति पाकर गौरक्षा की आड़ में देशभर में आक्रामक चौकसी और घेराबंदी की मुहिम पर हैं। कानून के दायरे से बाहर जाकर की जा रही इस चौकसी और टोका-टोकी से दलितों और अल्पसंख्यकों में आतंक और असुरक्षा की स्थिति पैदा हो रही है। एक धर्म विशेष से जुड़े दक्षिणपंथी संगठनों द्वारा दलितों और अल्पसंख्यकों पर जारी इस अवैधानिक निगरानी पर तुरत रोक लगाये जाने की जरूरत है। गुजरात सरकार और केंद्र सरकार, दोनों को त्वरित और कठोर कदम उठाते हुए यह

संदेश देना चाहिए कि गौरक्षा के नाम पर किसी भी प्रकार की हिंसा और आतंक को सहन नहीं किया जायेगा। दक्षिणपंथी राजनैतिक दलों के साथ-साथ तथाकथित धार्मिक-सांस्कृतिक संगठनों और समितियों को भी अपने जेहन में यह अच्छे से उतार लेना चाहिए कि गौरक्षा के नाम पर घोषित-अघोषित रूप से जो कुछ वे कर रहे हैं, उनकी इन कारगुजारियों ने इस पवित्र मानेजाने वाले जानवर की बदनामी ही की है।

उना की इस ताजा दलित विरोधी हिंसा ने कानून व्यवस्थां की बेहतरी के गुजरात सरकार के दावों की पोल खोल कर रख दी है। आज गुजरात राज्य की हकीकत ये है कि गाय की रक्षा के नाम पर दो सौ से ज्यादा गौ निगरानी समूह राज्य में सक्रिय हैं। 'गौरक्षा समिति' और 'गौरक्षा एकता समिति' जैसे नामों से सक्रिय ये समूह इस राज्य की कानून व्यवस्था के लिए गंभीर खतरा बन चुके हैं। ये हथियारबंद दस्ते स्वयं को किसी भी कानून व्यवस्था से ऊपर समझते हैं और गाय की रक्षा के बहाने दलितों-मुस्लिमों में आतंक फैला रहे हैं। बूचड़खानों के धंधे से जुड़े और गोश्त का व्यवसाय करने वाले दलित और मुसलमान इनकी हिंसा के शिकार बनते आ रहे हैं। सरकारी न्याय तंत्र की सुस्त चाल और सत्तासीन दल की सरपरस्ती से ये निरंकुश बन गये हैं। इन्हें भला यह अधिकार किसने दे दिया कि ये किसी भी वाहन को रोक करके यह तस्दीक करें कि उस वाहन का मुस्लिम या दलित चालक गायों को तो नहीं ढो रहा या किस हैसियत से ये समितियां दलितों और मुसलमानों को गौहत्या या गौमांस सेवन के आरोप में उत्पीड़ित कर सकती हैं। वास्ताव में गाय की रक्षा के नाम पर ये स्वघोषित निगरानी दस्ते गुंडों और अपराधियों की लूट खसोट का जरिया बन गये हैं। पहले गुजरात में मात्र जैन धर्म से जुड़े लोग अहिंसक तरीके से गौ रक्षा की मुहिम चलाया करते थे लेकिन अब राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और उसके आनुषांगिक संगठनों द्वारा गौरक्षा का जो उन्मादी माहौल खड़ा कर दिया गया है, उसमें असामाजिक तत्वों की भी बन आई है। ये तत्व गौरक्षा समितियों के नाम पर जब-तब बूचड़खना के नाम पर छापामारी करके अवैध वसूली करते हैं। गोश्त व्यवसाय से जुड़े मालवाहक वाहनों को रोक कर के पैसे बनाते हैं। इस पूरे मामले में कोई मासूम सा सवाल उठा सकता है कि गुजरात की पुलिस क्या कर रही है तो गुजरात की पुलिस का तो मोदी राज में पहले ही भगवाकरण हो चुका था और फिर वैसे भी इस गौरक्षा आंदोलन द्वारा मुहैया कराये अवसर से वह अपना लोक और परलोक दोनो सुधारने में लगी है!

गुजरात सरकार के वरिष्ठ अधिकारियों का स्वयं ये मानना है कि वहां की पुलिस भी गौरक्षा समितियों की गैरकानूनी गतिविधियों में बराबर की दोषी है। ये समितियां पुलिस के लिए जहां मुखबिरी का काम करती हैं, वहीं बहुधा पशुव्यापारियों और बूचड़खानों के मालिकों से पैसे ऐंठने में पुलिस की दलाली भी करती हैं।

मोटा समधियाल के इस दलित उत्पीड़न में भी स्थानीय पुलिस की सहभागिता के पूरे प्रमाण हैं। घटना के शिकार दलितों से मिलने गये दिल्ली के मुख्यमंत्री अरविंद केजरीवाल ने भी आरोप लगाया है कि गौरक्षा समिति के लोग जिन लाठियों से दलितों को पीट रहे थे, वे लाठियां पुलिस के लोगों की थीं। स्पष्ट है कि स्थानीय पुलिस की गौरक्षा समिति के साथ जुगलबंदी है। गाय की हत्या के झूठे आरोप में दलितों को मारने-पीटने वाले लोगों की संख्या चालीस-पचास बताई गई है लेकिन पुलिस का सिर्फ 16 लोगों को ही गिरफ्तार करना भी पुलिस की इस दलित विरोधी हिंसा में सहभागिता और उसके भगवाकरण का साफ संकेत है।

राष्ट्रीय अनुसूचित जाति आयोग के अध्यक्ष पी. एल. पुणिया अगर गुजरात के दलित आक्रोश के संदर्भ में गौरक्षक समितियों को 'दलित भक्षक समितियां' कहते हैं तो इसमें कहीं कोई गलतबयानी या बड़बोलापन नहीं है। गौरक्षा के नाम पर गुंडों की मंडलियां आज गुजरात में दलितों से उनकी आजीविका छीन रही हैं। परंपरागत रूप से दलित मृतक

गाय/ पाणिनि आनंद

गाय
मां है तुम्हारी
क्योंकि तुम ही सदा से पीते आए हो दूध
घरों में तुम्हारे जलते हैं घी के दीए
माखनचोर के मंदिर के तुम पुजारी हो,
वही तुम्हारा ठाकुर है
दही का पंचामृत केवल तुम्हारे कुल परिवारों के लिए है
तुम बैलगाड़ियों पर बैठकर स्नान को जाते रहे
मेलों में, अस्पताल में, बारातों, बहू की विदा में
बैलों ने तुम्हारे खेत जोते
तुम्हारे दरवाजे की शोभा बढ़ाई।
हमारे लिए गाय शोषण का माध्यम रही
चारा काटते, गो चराते हम तुम्हारे गुलाम बने रहे
हमारे हिस्से में आया गोबर
हमने गोबर को सिर पर ढोया, हाथों से थापा
उपलों से तुम्हारे चूल्हे जले
हम भीगे चूल्हों पर पतीली में पानी उबालते रहे
हमारे बच्चों ने जो दूध पिया, वो अपनी मां का
उसके सूखे थनों के अलावा अपनी कोई कामधेनु नहीं थी
हम सुअरों की घर्राहट और तुम्हारी गालियों के बीच बड़े हो गए
हम बैलगाड़ी पर कभी नहीं बैठे
हमारे पास न बैल थे, न कभी बैलगाड़ी रखने दी गई
खेत तो अपना कभी था ही नहीं
हम लंबे सींगों वाले तुम्हारे बैलों को आता देखकर रास्ता छोड़ते रहे
तुम गालियां बकते हुए आगे जाते रहे
हम लढ़ियों के पीछे सूखी सोहारियों की आस लिए नंगे भागते रहे
इलाज और प्रसव के लिए
हम चारपाइयों पर अपने लोगों को ढोकर ले जाते रहे
और वैसे ही ढोकर बहू घर आती रही
गाय सचमुच हमारी मां नहीं है
हमारे लिए गाय चमड़ा है
तुमने चमड़े का प्रलोभन दे हमसे मरी गाय उठवाई
हम मरियल काया पर मरी गाय ढोकर ले जाते रहे
चील, कौओं, कुत्तों और गीदड़ों से घिरे हम गाय छीलते हुए
हमेशा अपने मनुष्य होने पर संदेह करते रहे
गाय हमारी मां नहीं है
तुम्हारी है
लेकिन अपनी मां का अंतकर्म देखने तुम कभी नहीं आए
तुमने कभी अपनी मां का नहीं किया
अंतिम संस्कार।

1 अगस्त, 2016, नई दिल्ली

जानवरों की खाल उतारते आये हैं और वे चर्म उद्योग में काम करते आये हैं। दलितों के इस चर्मकर्म की ही बदौलत भारत आज अंतर्राष्ट्रीय बाजार में सबसे बड़ा चमड़ा निर्यातक है। लाखों लोग गोश्त और चमड़े के व्यवसाय से अपनी रोजी चलाते हैं। लेकिन दलितों को अपने गुलाम के रूप में देखती आई ब्राह्मणवादी ताकतों को ये क्यों कर भला सह्य हो सकता है कि दलित का पेट भरा हो! और फिर गोश्त और चमड़े के इस धंधे से मुस्लिमों का भी आर्थिक सशक्तिकरण हुआ है जिन्हें हिंदुत्ववादी ताकतें अपना दुश्मन नं एक मानती हैं। अत: गाय तो सिर्फ एक बहाना भर है, इन गौरक्षक समितियों के कंधों पर बंदूक रखकर अपनी रोटी सेंकने वाले भगवा संगठनों का असली निशाना तो है दलितों और मुसलमानों का पेट। हिंदू धर्म और गाय को सामने करके लाखों-करोड़ों का रोजगार छीनने वाले दक्षिणपंथी धार्मिक संगठनों की ताकत पर इतराने वाले संघ के प्रधानमंत्री (भारत के नहीं!) भला किस मुंह से 'मेक इन इंडिया' और 'स्किल इंडिया' की बात कर सकते हैं?

संसद में गुजरात की इस दलित उत्पीड़न घटना और तद्जन्य दलित आंदोलन पर हंगामा कर रहे विपक्षी दलों के बार-बार व्यवधान डालने पर हमारे गृहमंत्री राजनाथ सिंह को केंद्र और गुजरात की अपनी सरकारों के बचाव में उतरना पड़ा। लेकिन उनके इस रक्षात्मक दावे में बिल्कुल सच्चाई नहीं है कि भाजपा शासित राज्यों में दलित उत्पीड़न की घटनाओं में कमी दर्ज की गई है। असल में अगर किसी राज्य सरकार के निर्देश पर पुलिस दलितों पर होने वाले अत्याचारों के मामले दर्ज ही नहीं करती तो इसके मायने ये नहीं हुए कि दलितों के प्रति होने वाली हिंसा में आपकी कमीज दूसरों की कमीज से ज्यादा साफ है। गुजरात में दलितों के खिलाफ होने वाले दमन-आतंक के जितने भी मामले पुलिस एफ.आई.आर में दर्ज किये गये और अन्वेषित किये गये, उन मामलों में आरोपियों की दोषसिद्धि की दर मात्र 2.9 प्रतिशत है। और यह राष्ट्रीय औरत (22 प्रतिशत) से बहुत बहुत कम है। इस प्रकार मोदी के गुजरात में जिंदा दलित की जान की कीमत मृत जानवर से भी कम है। गायों की रक्षा के नाम पर आप उन्हें पीट सकते हैं, उनकी चमड़ी उधेर सकते हैं! लेकिन गौरक्षकों

के ऊपर मोदी की सरकार हाथ भी नहीं उठायेगी। गुजरात में घटित दलित दमन की इस घटना को दलित उत्पीड़न की एकाकी घटना के रूप में भी नहीं देखा जाना चाहिए। हिंदुत्ववादी संगठन अपना दामन बचाने के लिए इसे अपवाद रूप दिखाने का प्रयास करने से बाज नहीं आने वाले। लेकिन हकीकत यह है कि मोटा समधियाल में घटित दलित विरोधी हिंसा तो गुजरात में दलितों पर जारी अत्याचारों की लंबी फेहरिस्त में सिर्फ ताजा कड़ी भर है। इसी साल जुलाई के आरंभ में पोरबंदर के समीपस्थ एक गांव में एक दलित किसान को सिर्फ इसलिए मार डाला गया क्योंकि वह गांव की साझा गोचर जमीन पर हल चलाने जा रहा था। अप्रैल में अहमदाबाद की स्थानीय अदालत में कार्यरत दलित लिपिक ने जातीय अपशब्दों की जहालत सहन करते रहने से बेहतर समझा कि वह आत्महत्या कर ले।

2012 में सुरेंद्र नगर में पुलिस की गोली से तीन दलित मारे गये थे। तत्कालीन मुख्यमंत्री मोदी ने मातमपुर्सी के लिए जांच समिति बैठा दी। उस जांच समिति ने अपनी रपट भी सरकार को सौंपी थी किंतु आज तक वह जांच रपट सार्वजनिक नहीं की गई है। गांधी की इस जन्मस्थली में आज भी दलित मंदिरों में नहीं जा पाते। गांव की आम श्मशान भूमि में वे अपने मृतकों का अंतिम संस्कार नहीं कर सकते। चूंकि राज्य प्रशासन दलितों के खिलाफ जारी भेदभाव और उनके साथ होने वाली हिंसा को लेकर गंभीर नहीं रहा है, परिणाम है कि अपराधियों के मन में सजा का भय भी जाता रहा है। अत: गुजरात में दलितों के खिलाफ अपराध भी बेरोकटोक जारी है। इस बार जरूर कुछ हलचल सोशल मीडिया के कारण हो गई है। कांग्रेस उपाध्यक्ष राहुल गांधी से लेकर दिल्ली के मुख्यमंत्री अरविंद केजरीवाल, जनतादल (यूनाइटेड) के नेता शरद यादव, भाकपा नेता डी. राजा और माकपा नेता वृंदा करात जैसे बड़े विपक्षी नेताओं ने भी इस मुद्दे पर सरकार के कान मरोड़ने में कोई कसर नहीं छोड़ी है। लेकिन गुजरात सरकार की अहमन्यता देखिए कि सरकार के मुखिया इन नेताओं द्वारा की गई उनकी सरकार की तीखी आलोचनाओं के बावजूद भी अपनी गलती मानने को कतई तैयार नहीं।

परंपरागत रूप से गाय भारतीय संस्कृति में कृषि सभ्यता का मूर्त रूप रही है। यह प्रकृति के साथ मनुष्य के एकाकार संबंध का और कृषि केंद्रित अर्थ व्यवस्था में मनुष्य और पशुओं की पारस्परिक निर्भरता का प्रतीक रही है। लेकिन बदलती अर्थव्यवस्था में न कृषि आज किसी की चिंता का विषय है और न कृषक कर्म से जुड़े खेतिहर दलित-आदिवासी। किंतु कुछ लोग परिवर्तित आर्थिक परिस्थितियों से आंखें चुराकर आज भी गाय को धर्म विशेष से जोड़कर अपने गर्हित स्वार्थों का झुनझुना बजाते रहना चाहते हैं। दरअसल भाजपा के लिए गाय का मुद्दा कोई धार्मिक मुद्दा है ही नहीं, वह तो सिर्फ गाय के नाम पर धर्म की राजनीति करती है। वह उत्तर प्रदेश के चुनाव से ठीक पहले मतदाताओं का धर्म के नाम पर ध्रुवीकरण करना चाहती है। यही प्रयास बिहार में भी उसने किया था जो असफल रहा। लेकिन उत्तर प्रदेश में उसे लगता है कि गाय चुनाव की वैतरणी पार लगवा देगी अत: गाय को राजनीति के दंगल में उतारा जा रहा है। लेकिन भाजपा भूल जाती है कि गाय का यह राजनीतिक दांव उसे दलित-आदिवासी मतों से भी वंचित कर सकता है। और गुजरात में उसका यह दांव उलटा पड़ गया है। गुजरात के दलित आज भाजपा समर्थित गौरक्षा समितियों के खिलाफ सड़कों पर उतर आये हैं। गौरक्षा की यह भगवा ध्रुवीकरण की राजनीति सिर्फ गुजरात या उत्तर प्रदेश तक सीमित नहीं है। ऐसी अपुष्ट खबरें हैं कि बंगाल समेत कई राज्यों में भाजपा और उससे संबद्ध विभिन्न संगठन गौसर्वेक्षण की मुहिम पर काम कर रहे हैं। भगवा ताकतों द्वारा गौवध के झूठे मामलों में दलितों को मारने-पीटने और पुलिस से गिरफ्तार करवाने के उदाहरण गुजरात से बाहर भी मिल रहे हैं। जैसे 10 जुलाई को गुजरात की दलित हिंसा से ठीक एक दिन पहले कर्नाटक के चिकमगलूरू जिले के शांतिपुर गांव में स्थानीय बजरंग दल कार्यकर्ताओं द्वारा गौवध के झूठे आरोप में पांच दलितों को पीटा गया। और पुलिस न सिर्फ तमाशबीन बनी रही अपितु उसने उल्टा हिंसा के शिकार इन दलितों को ही गिरफ्तार कर के इन पर मुकदमा जड़ दिया। गायों के लिए आधार कार्ड जैसा कार्ड बनाने की भी चर्चा चलाई गई है। लेकिन इस विभाजनकारी राजनीति को सहन नहीं किया जा सकता। हम क्या खाते हैं और क्या व्यवसाय करते हैं, किसी को इस पर कानून की सीमा से बाहर जाकर सवाल उठाने का अधिकार नहीं है। सवर्णों की तरह दलितों को भी हमारे संविधान ने रोजगार की स्वतंत्रता का आधारभूत अधिकार दिया है। और वे सदियों से चमड़े और जूते का व्यवसाय करते आये हैं। हमारा पेट भरने के लिए हमें गोश्त मुहैया कराते आये हैं। देश की अर्थव्यवस्था में इनका महत्वपूर्ण योगदान है। और मुट्ठी भर लोगों की तथाकथित धार्मिक भावनाओं के लिए इन दलितों के साथ गौरक्षा के नाम पर मारने-पीटने की नृशंसता नहीं की जा सकती।

असहाय पददलित लोगों को नंगा कर, उनको मार-पीट कर और उनका जुलूस निकाल कर अपनी तथाकथित धार्मिक संवेदनाओं को संतुष्ट करने वाले लोगों से क्या यह नहीं पूछा जाना चाहिए कि आपका अतिनाजुक हृदय, आपकी अतिभावुक संवेदनाएं तब क्यों् नहीं आहत होतीं जब आधे से ज्यादा हिंदुस्तान भूखा सोता है? जब हमारे बच्चे कुपोषण और बीमारियों से मरते हैं? जब बड़े-बड़े बांधों और खनन माफियाओं के कारण हजारों-लाखों एकड़ उपजाऊ जमीन या तो डूब जाती है या अपनी उर्वरता खो बंजर हो जाती है? आपकी इसी दलित विरोधी आधी-अधूरी संवेदना के कारण अंबेडकर को गांधीजी से कहना पड़ा था कि भारत कुत्ते-बिल्लियों का भी देश हो सकता है किंतु हम दलितों का नहीं। और स्वयं गांधीजी का भी मानना था कि अर्द्ध भूखे राष्ट्र के पास न कोई धर्म होता है, न कला और न संगठन। अत: दलितों पर हिंसा करने वाले स्वयंभू गौरक्षको, दलितों के पेट पर लात मार कर आप इस खुशफहमी में मत रहिए कि हम दलित भी आपके तथाकथित हिंदू राष्ट्र को अपना राष्ट्र मान सकते हैं।

'मंच तैयार हो गया है मोलभाव के लिए'

मार्टिन मैक्वान

दलितों के सामाजिक और आर्थिक शोषण के खिलाफ लड़ने के लिए मार्टिन मैक्वान ने 1988 में गुजरात के अहमदाबाद में नवसृजन न्यास की स्थापना की थी। वे दलित मानवाधिकारों के राष्ट्रीय अभियान के संयोजक रहे हैं। 2005 में ह्यूमन राइट वाच ने उन्हें पांच उत्कृष्ट मानवाधिकार रक्षकों में नामोल्लेखित किया। दलित उत्पीड़न को 'वैश्विक महत्व के मुद्दे' के रूप में मान्यता दिलाने के लिए ये जिस लगन के साथ संघर्षरत रहे हैं, उसके लिए उसी साल 2005 में इन्हें 'राबर्ट एफ. केनेडी मानवाधिकार पुरस्कार' से भी नवाजा गया। 'दि हिंदू' के लिए वैष्णा रॉय ने उनके साथ फोन और ईमेल पर वार्तालाप किया था जिसके महत्वपूर्ण अंश साक्षात्कार की शक्ल में 31 जुलाई, 2016 के 'दि हिंदू' में प्रकाशित भी हुये हैं। यह साक्षात्कार इसके बारे में है कि कैसे गुजरात में हुये दलितों के विरोध प्रदर्शन राष्ट्रव्यापी दलित बगावत को भड़काने वाली चिंगारी बन सके हैं। इसी साक्षात्कार का अनुवाद हिंदी पाठकों के लिए यहां प्रस्तुत है।

यहां पहली बार दलितों ने विरोध के इस रूप को अख्तियार किया है। प्रतिरोध स्वरूप ऊंची जातियों से यह कहना कि अगर गाय आपकी माता जी हैं, तो उसकी मृत देह का निपटान आप ही कीजिए! मुझे यह बहुत प्रभावशाली लगता है।

गुजरात में 1982 के आरक्षण विरोधी दंगों के दौरान सफाईवालों ने शहरों के बदबू मारने की हद तक गलियों को साफ करना बंद कर हिंसा का प्रतिरोध किया था। विभाजन के समय सफाईकर्मियों के भारत जाने और मुसलमानों के साफ करने के लिए गलियों में अपशिष्ट छोड़ जाने के विचार से पाकिस्तान इतना आक्रांत हो गया था कि उन्हें वहीं पीछे रह जाने को तैयार करने के लिए राष्ट्र रक्षकों का विशेष दर्जा दिया गया था। ऊना घटना की क्रूरता ने दलितों को बंद गली के मुहाने पर ला पटका है जहां पुलिस (हमलावरों की) पिछलग्गू थी और राज्य ने भी अफसरशाही की लक्ष्मण रेखा तक ही अपने को सीमित रखा। अत: अब दलितों ने तय कर लिया है कि उन्हें इन ऊंची जातियों का और उनके धर्म में उनकी आस्था का इम्तहान लेना है कि ''क्या गाय आपके लिए पवित्र है और क्या वह आपकी मां है? तो आप ही उसकी देखरेख करें !'' इसका असर पहले ही दृष्टव्य है। दलित मृत पशुओं की लाशों का निपटान करने की गैर दलितों की प्रार्थनाओं को विनम्रता से ठुकरा

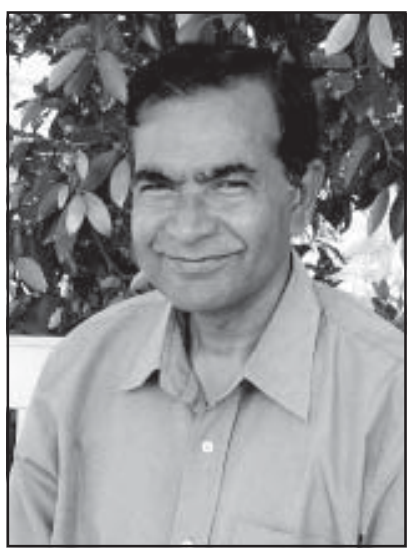

मार्टिन मैक्वान

रहे हैं और अब तक तो सड़ते हुए मांस की बदबू हवा में फैल चुकी है। गुजरात के मुख्य सचिव ने पहली बार स्वीकारा है कि गौ रक्षक और कुछ नहीं, बस गुंडे हैं। सरकार को अब अपने ही शब्दों पर खरा उतरने के लिए कदम उठाना है।

आज (दलितों में) विशाल परिमाण में गुस्सा भरा है। लेकिन फिर भी दलितों के खिलाफ क्रूरता कोई नई बात नहीं है। वास्तविक चिंगारी आखिर इस बार क्या थी?

दलितों के जीवन में क्रूरता रोजमर्रा का मुद्दा नहीं है किंतु भेदभाव तो रोजाना की बात है। शिक्षित नई पीढ़ी आज ज्यादा जागरूक है और अंबेडकर और फुले से प्रभावित है। प्रिंट मीडिया का क्षेत्रीयकरण क्रूरता की सूचना को दूसरे क्षेत्रों तक पहुंचने से रोका करता है किंतु सोशल मीडिया पक्षपात से रहित होने के साथ-साथ प्रिंट मीडिया से कहीं ज्यादा ताकतवर साबित हुआ है। ऊना घटना के दृश्यों ने, जैसे दलित युवाओं की नग्न पीठों पर क्रूरता से बरसते डंडे, उनमें से एक का मात्र 17 साल का होना, उपहास उड़ाते पुलिसवालों की उपस्थिति और रीढ़ विहीन नागरिक समाज-इन सबने मिलकर दलित युवाओं को इस बात का आभ्यंतरीकरण करवा दिया कि जैसे उनकी अपनी ही देहों पर डंडे लगाये जा रहे हैं और उनका ही उपहास उड़ाया जा रहा हो। विभिन्न मुद्दों को लेकर असंतोष लंबे समय से घनीभूत होता जा रहा था, जैसे- निजी शिक्षा की अवहनीयता, बेरोजगारी, कार्यस्थलों पर भेदभाव आदि। और पटेल आंदोलन तथा कश्मीर हिंसा के बिंब इन युवाओं के जेहन में विद्यमान थे।

क्या दलित इस अवसर का इस्तेमाल अपने गुस्से को एक अर्थपूर्ण दिशा देने और उसकी राष्ट्रव्यापी व्याप्ति के लिए कर सकते हैं?

सन् 2000 में नस्लवाद के खिलाफ संयुक्त राष्ट्र की वैश्विक संगोष्ठी के दौरान दलितों को एक राष्ट्रीय ताकत के रूप में एकजुट होने का अद्वितीय मौका मिला था

क्योंकि उस समय एक रणनीतिगत आंदोलन ने यह सुनिश्चित कर दिया था कि जाति के मुद्दे को इस संगोष्ठी के कार्यक्रम में स्थान मिले। किंतु भारत सरकार ने जाति पर होने वाले उस विमर्श को रुकवाने के लिए कोई कसर न छोड़ी। इसके लिए दिये गये हमारी सरकार के तर्क थे कि 'भारत में किसी भी तरह की अस्पृश्यता अब विद्यमान नहीं हैं।' और 'जाति भारत का अंदरूनी मसला है।' भारत का यह कदम नेपाल के विपरीत था जिसने जाति को मानवाधिकारों के एक उल्लंघन के रूप में स्वीकारा था। यह बावजूद इसके था कि राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग दलितों का समर्थन करता है। इस बार प्रिंट और इलैक्ट्रॉनिक मीडिया ने विभिन्न राज्यों के दलितों को एक साथ लाने में अत्यधिक मदद की। दूसरे समुदायों ने भी दलितों के साथ सहानुभूति दिखलाई है।

दलित संगठन कैसे राष्ट्रीय स्तर पर इस प्रतिरोध का समर्थन कर सकते हैं?

इस बार के विरोध में संगठनगत नेतृत्व की अपेक्षा समुदायगत नेतृत्व ज्यादा है। संगठन तो बाद में इसके साथ जुड़े हैं। उनकी भूमिका विरोध को एक अर्थपूर्ण दिशा में धारागत रूप देना है। वे इसमें शोध और तकनीकी विशेषज्ञता के साथ आ जुड़े हैं। उदाहरण के लिए जैसे मुकदमों में कानूनी सहयोग देना और (आंदोलन) को प्रचारित-प्रसारित करना। सभी राज्यों के लोगों के बीच ये संगठन संयोजक सूत्र बने हैं।

बदलाव की मांग के लिए जमीनी स्तर का जन विरोध सबसे श्रेष्ठ मालूम पड़ता है। वे कौन सी बिघ्न-बाधायें हैं जो दलितों को संगठित कदम उठाने से रोकती हैं?

अपने अनुभव से मैं कहूंगा कि किसी भी सामाजिक आंदोलन में विशेषत: जो जाति को विघटित करने वाला है, उसमें उत्पीड़क विचारधारा के आभ्यंतरीकरण से पैदा होने वाला भय ही प्रधान अवरोध होता है। इसके निवारणार्थ सामुदायिक संघटन हेतु अति दीर्घकालीन काम की अपेक्षा रहती है। ऐसा नहीं है कि जो लोग उत्पीड़ित हैं, वे कानून न जानते हों। तथ्य यह है कि धर्म अनुमोदित जाति संविधान से ज्यादा ताकतवर है। और राज्य भी संविधान की जगह जाति का समर्थन करता पाया जाता है।

मैं दूसरी बड़ी बाधा के रूप में सदन में दलित प्रतिनिधियों के अप्रभावी राजनीतिक नेतृत्व को देखता हूं। दलितों का प्रभावी राजनीतिक प्रतिनिधित्व सुनिश्चित करने के लिए अंबेडकर पृथक निर्वाचन क्षेत्र चाहते थे। लेकिन गांधी जी के आमरण अनशन के कारण उन्हें राजनीतिक आरक्षण स्वीकारने को बाध्य होना पड़ा था। आज संसद में अनुसूचित जातियों के 84 सदस्य हैं, लेकिन उन्होंने आज तक संसद को ठप्प नहीं किया चाहे मैला ढोने का मुद्दा हो या चाहे निरंकुश क्रूरता का मामला हो। कारण कि उनकी प्राथमिक आस्था अपने-अपने राजनीतिक दल के प्रति होती है। किंतु चाहे दलितों के साथ अछूतों सरीखा व्यवहार किया जा सकता हो, वे 16.5 प्रतिशत मत रखते हैं और ये मत अस्पृश्य नहीं हैं। यही कारण है कि दलित अपनी स्थिति के प्रति ध्यानाकर्षण में समर्थ रहे हैं।

आंद्रे बेटेल ने कहा था कि 'कुछ लोगों (दलितों) को सभी गंदे कार्य करने पड़े थे ताकि दूसरे लोग कर्मकांडीय पवित्रता की अपनी अवधारणा को बनाये रख सकें।' क्या होता अगर पूरे भारत के दलित मानव अपशिष्ट को हटाने से इंकार कर देते या नालियों को साफ करने से? सामाजिक पदानुक्रम की जिस जड़ता को हम जानते हैं, वह इससे हिल जाती।

गरीबी रेखा से नीचे वाले जन साधारण में सबसे गरीब दलित ही हैं। आजादी पूर्व के कानून जैसे कि पंजाब के कानून उन्हें संपत्ति खरीदने से प्रतिबंधित करनेवाले थे क्योंकि मनुस्मृति के अनुसार उनसे अपेक्षा की जाती थी कि वे वर्चस्वशील जातियों की सेवा करें। इसने भी दलितों को भूमिहीन बनाया। भूमि के पुनर्वितरण का लक्ष्य रखने वाले स्वातंत्रयोत्तर भू-सुधार गुजरात में पटेलों के पक्ष में सफल रहे किंतु दलितों और आदिवासियों के मामले में बुरी तरह से असफल रहे। आरक्षण को गलत ढंग से लागू किया गया है। दलितों के लिए आरक्षित हजारों नौकरियों को भरा ही नहीं गया है। इसीलिए बहुत सारे दलित जीवन निर्वाह हेतु जाति आधारित पेशों को जारी रखते हैं। यह जातीय संरचना में कैद रखने का दुष्चक्र है। दीर्घकालीन प्रतिवाद के लिए आर्थिक रूप से स्वस्थायित्व का होना एक पूर्व शर्त है। मोलभाव करने के लिए अब मंच तैयार हो गया है।

इस मुद्दे पर प्रधानमंत्री पूर्णत: चुप्पी साधे हैं। उनसे और शासक दल से आपकी क्या उम्मीदें हैं?

वे ही मुख्य सूत्रधार हैं जो अपने पूर्ववर्तियों के पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए जाति और धर्म के आधार पर देश को विभाजित करते हुए धार्मिक पहचान आधारित बहुमत की राजनैतिक अवधारणा को आगे बढ़ाने में लगे हुए हैं। लेकिन भारत के संदर्भ में यह याद रखना महत्वपूर्ण है कि धर्म और जाति, एक ही सिक्के के दो अविच्छेद पक्ष हैं। ईसाइयत, इस्लाम और सिख धर्म में जातीय विभाजन का यही कारण है जबकि उनके सिद्धांत जाति का समर्थन नहीं करते और उनकी उत्पत्ति किसी समय जाति विरोधी आंदोलनों में से हुई थी। प्रधानमंत्री चुनावों को जीतने में सफल रहे हैं लेकिन वे सामाजिक बदलाव की प्रतिमा नहीं रहे हैं, चाहे वे अन्य पिछड़ा वर्ग के एक सदस्य के रूप में पहचान का दावा करते हों। चुप रहने के सिवा उनके पास और कोई विकल्प है ही नहीं।

सुधारों के रास्ते पर अहतियातन और क्या किया जा सकता है?

भू-सुधारों का क्रियान्वयन, आरक्षण के तहत नौकरी की रिक्तियों का भरा जाना, निजी क्षेत्र में आरक्षण का आगाज जिस वायदे को निभाने में यूपीए इरादतन असफल रही और दलित और आदिवासियों की उच्च शिक्षा हेतु एक कोष की स्थापना। इस अशांति को नियंत्रित करने के ये महत्वपूर्ण कदम हैं।

दलित संदर्भ में 'विकास के गुजरात नमूने' पर हमें कैसे विचार करना चाहिए?

असमानता और विकास के सहअस्तित्व के तमाशे हेतु गुजरात भारत के लिए एक नमूना रहा है।

कोलंबिया के कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों के साथ शांति समझौता

52 वर्ष के सशस्त्र संघर्ष का समापन

समझौते को अंतिम रूप देने के बाद कोलंबिया के राष्ट्रपति मैनुएल सेंतोस (बाएं), क्यूबा के राष्ट्रपति राउफ कास्त्रो (बीच में) और 'फार्क' के सर्वोच्च कमांडर रोद्रिगो लोंदोनो एशेवेरी उर्फ 'तिमोचेंको' (दाएं)

पांच दशक से भी अधिक समय से सरकार और छापामारों के बीच जो युद्ध चल रहा था उसकी समाप्ति आखिर हो ही गयी। अगस्त के अंतिम सप्ताह में 'फार्क' (रिवोल्यूशनरी आर्म्ड फोर्सेज ऑफ कोलंबिया) के कम्युनिस्ट विद्रोहियों और सरकार ने एक दस्तावेज पर हस्ताक्षर किया जिसकी पुष्टि के लिए अब जनमत संग्रह कराया जाएगा...कोलंबिया के राष्ट्रपति मैनुएल सेंतोस ने ऐलान किया है कि 2 अक्टूबर 2016 को राष्ट्रीय स्तर पर एक जनमत संग्रह संपन्न होगा और जनता बताएगी कि कम्युनिस्ट विद्रोहियों के साथ हुए इस समझौते को वह स्वीकार करती है या नहीं। दोनों पक्षों के बीच समझौता क्यूबा की राजधानी हवाना में हुआ जहां क्यूबा के राष्ट्रपति राऊफ कास्त्रो की पहल पर नवंबर 2012 से बातचीत चल रही थी...लातिन अमेरिकी देशों में कोलंबिया की गिनती उन देशों में की जाती है जहां अब तक का सबसे लंबे समय तक चलने वाला छापामार युद्ध जारी था। 1964 से शुरू इस युद्ध में ढाई लाख से अधिक लोग मारे गए और तकरीबन 60-70 लाख लोग विस्थापित हुए। आम जनता के अंदर शांति की इच्छा इतनी प्रबल थी कि जिस समय शांति दस्तावेज पर दोनों पक्ष हस्ताक्षर कर रहे थे, उस घटना का सजीव प्रसारण देखने के लिए राजधानी बागोटा के प्रमुख चौराहे पर अपार जनसमूह एकत्रित था जो इसी अवसर के लिए बनाए गए विशेष स्क्रीन पर इस ऐतिहासिक क्षण को देख रहा था...समझौते के अनुसार एक निश्चित सीमा अवधि के अंदर फॉर्क के तकरीबन 7 हजार योद्धा सरकार को अपने हथियार समर्पित करेंगे। सरकारी दमन की वजह से इन योद्धाओं की संख्या आज 7 हजार रह गयी है जबकि कुछ वर्ष पहले तक इनकी संख्या 19 हजार थी।

कोलंबिया के 'फार्क' छापामार

माइकेल डी. येट्स

पत्रकार और लेखक माइकेल डी. येट्स ने लंबे समय तक यूनीवर्सिटी ऑफ पिट्सबर्ग में अर्थशास्त्र और श्रम संबंधों का अध्यापन किया। उन्होंने सामाजिक न्याय के लिए लातिन अमेरिकी देशों की ही नहीं बल्कि एशिया और अफ्रीका के देशों में संघर्षरत संगठनों का व्यापक अध्ययन किया है। अभी वह 'मंथली रिव्यू प्रेस' से संबद्ध हैं।

अगर पूंजीवाद की जगह पर एक जनतांत्रिक और समतावादी उत्पादन प्रणाली की स्थापना करनी है तो बुनियादी सवाल यह पैदा होता है कि पूंजीवाद से इस नयी उत्पादन और वितरण प्रणाली में संक्रमण किस तरह संभव हो सकता है। क्या यह मुमकिन है कि पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के भीतर वैकल्पिक आर्थिक संयंत्र का निर्माण किया जा सके और इन संयंत्रों के बढ़ते दबाव से पूंजीवाद को कमजोर करते हुए अंततः उसे समाप्त किया जा सके? क्या ऐसा भी हो सकता है कि मजदूर आधारित क्रांतिकारी राजनीतिक पार्टियां चुनावों को जीतने के बाद एक शांतिपूर्ण संक्रमण के लिए राज्य का इस्तेमाल करें? अथवा क्या पूंजीवाद केवल हिंसात्मक बल प्रयोग अर्थात क्रांतिकारी सशस्त्र संघर्ष के जरिए ही समाप्त किया जा सकता है?

अब तक जितने भी सामाजिक रूपांतरण सफल हुए हैं वे क्रांतियों के जरिये ही सफल हो पाये हैं। यह हमने सबसे पहले सोवियत संघ में, फिर चीन में, क्यूबा में, वियतनाम में तथा कुछ अन्य स्थानों में देखा। निजी संपत्ति पर जबरन कब्जा करने के जरिए ही उत्पादन साधनों का सामाजीकरण किया जा सका और कुछ मामलों में तो यह कई वर्षों के सशस्त्र संघर्ष के जरिए ही संभव हो सका। हर मामले में अर्थव्यवस्था का रूपांतरण गरीब देशों में हुआ। किसी धनी देश में आज तक समाजवादी क्रांति नहीं हो सकी है।

क्यूबा की क्रांति अंतिम सफल क्रांति थी जो सशस्त्र संघर्ष के जरिए संपन्न हुई थी। चे ग्वेरा के बोलीविया में मृत्यु होने के बाद जहां वह क्यूबा की शैली की क्रांति संपन्न करना चाहते थे और निकारागुआ तथा एल सल्वाडोर में क्यूबा से प्रेरित क्रांतियों के असफल होने के बाद यह धारणा कमजोर पड़ गयी कि पूंजीवाद को सैनिक साधनों के जरिए ही परास्त किया जा सकता है। सोवियत संघ और इसके सहयोगी देशों के पतन के बाद क्रांतिकारी ताकतों को इस मामले में और भी झटका लगा।

दरअसल पहले की समाजवादी अर्थव्यवस्थाओं की मौत और चीन का पूंजीवाद की ओर बढ़ने की घटनाओं ने पूंजीवाद का कोई विकल्प पैदा करने की संभावना के सामने सवाल खड़े कर दिये हैं। इसके अलावा शांतिपूर्ण राजनीतिक साधनों के जरिए पूंजीवाद को ध्वस्त करने के प्रयास को उस समय मरणांतक आघात का सामना करना पड़ा जब चिली में जनतांत्रिक तौर से चुनी गयी सल्वाडोर अय्यंदे की सरकार का हिंसात्मक तरीके से

कोलंबिया में फार्क की जन मुक्ति सेना की महिला योद्धाएं

तख्ता पलट दिया गया। राष्ट्रपति अय्यंदे ने चिली की अर्थव्यवस्था का सामाजीकरण शुरू करने के लिए पूरी तरह वैधानिक तरीकों का इस्तेमाल किया था लेकिन उनको और उनकी पार्टी को इस काम में पराजय का सामना करना पड़ा और चिली की सेना ने अमेरिका की भरपूर मदद से अय्यंदे की हत्या कर दी। जनरल पिनोशे ने जिस फासिस्ट हिंसा का सूत्रपात किया उसकी झलक वाशिंगटन की सड़कों पर भी देखने को मिली जहां एक कार बम के जरिए अय्यंदे के एक मंत्री ओर लांदो लेतेरियर की हत्या हुई। ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में चिली पर नजर दौड़ायें तो इस निष्कर्ष तक पहुंचना कठिन नहीं होगा कि धनी देश अमेरिका की सरपरस्ती में कभी यह बर्दाश्त नहीं करेंगे कि शांतिपूर्ण ढंग से संक्रमण का प्रयास सफल हो। साम्राज्यवाद के समूचे इतिहास का अध्ययन करें तो पता चलता है कि सुधारवादी राजनीति तक को अमेरिका तथा इसके सहयोगियों ने सैनिक ताकत के बल पर कुचल कर रख दिया है।

शांतिपूर्ण संक्रमण के सभी प्रयासों के विफल होने की प्रतिक्रिया में और सोवियत संघ के पतन के बाद वामपंथियों के एक बहुत बड़े खेमे के अंदर व्याप्त हताशा को किनारे करते हुए पूंजीवाद को सैन्य तरीके से परास्त करने के दो महत्वपूर्ण प्रयास इन दिनों दुनिया में देखे जा सकते हैं- एक तो दक्षिण अमेरिका के कोलंबिया में और दूसरा एशिया के एक छोटे से देश नेपाल में। इन दोनों क्रांतियों के खिलाफ दुनिया भर के मेनस्ट्रीम मीडिया ने जिस तरह निंदा अभियान चलाया है उसे देखते हुए जरूरी है कि इन आंदोलनों की अपेक्षाकृत ज्यादा वस्तुपरक तस्वीर प्रस्तुत की जाय।

कोलंबिया ने 1810 में स्पेन से राजनीतिक आजादी हासिल की लेकिन लातिन अमेरिका के अधिकांश देशों की तरह इस राजनीतिक आजादी से न तो जनता को शांति मिली और न उसे आर्थिक स्वाधीनता ही हासिल हुई। जल्दी ही जमीन पर नियंत्रण का संघर्ष शुरू हो गया। 19वीं शताब्दी के मध्य तक देश की जमीन के अधिकांश हिस्से पर और घरेलू राजनीतिक सत्ता पर मुट्ठीभर धनी परिवारों का कब्जा हो गया। यहां आमतौर पर निर्यात के लिए कॉफी की पैदावार के जरिये समृद्धि आती थी। इसी दौर में दो प्रमुख राजनीतिक दलों- लिबरल्स और कंजर्वेटिव्स की स्थापना हुई। हालांकि दोनों बुर्जुआ पार्टियां हैं लेकिन लिबरल पार्टी प्रायः तरह तरह के आंदोलनों से और खासतौर पर ग्रामीण क्षेत्रों में भू-स्वामियों के खिलाफ किसानों के विद्रोह से किसी न किसी रूप में जुड़ी रही।

20वीं शताब्दी का दूसरा दशक आते आते शहरों तथा ग्रामीण क्षेत्र के बागानों में एक मजदूर वर्ग पैदा और संगठित होने लगा था। अब यहां कम्युनिस्ट पार्टी सहित क्रांतिकारी राजनीतिक पार्टियों का गठन होने लगा। हड़तालों और किसानों के विद्रोहों के जवाब में सरकार की तरफ से बर्बर हिंसात्मक कार्रवाई शुरू हो गई थी। 1928 में तो यूनाइटेड फ्रूट कंपनी के हड़ताली मजदूरों का सरकारी सैनिकों ने एक तरह से कत्लेआम कर दिया।

1930 से 1946 के बीच लिबरल पार्टी का शासन रहा और इसने भूमि सुधारों की शुरुआत की जिससे कंजर्वेटिव पार्टी के समर्थकों के अंदर जबर्दस्त गुस्सा पैदा हुआ। 1946 में कंजर्वेटिव पार्टी एक बार फिर सत्ता में आयी और इसने हिंसा का इस्तेमाल करते हुए उन सभी सुधारों को पलट दिया जो लिबरल पार्टी के शासनकाल में संपन्न हुए थे। 1948 में लिबरल पार्टी के नेता होथे गाइतांन की कंजर्वेटिव पार्टी के एजेंटों ने हत्या कर दी और इस हत्या की प्रतिक्रिया में जो गृहयुद्ध शुरू हुआ वह 10 वर्षों तक चला। 'ला वायलेंसिया' नाम से प्रख्यात इस गृहयुद्ध में तीन लाख लोग मारे गये। इसी अवधि में किसानों के बीच सशस्त्र छापामार दस्तों का गठन हुआ और इन्होंने ही फार्क की स्थापना का आधार तैयार किया। उस समय के एक प्रमुख विद्रोही नेता मैनुअल मारुलांदा वेलेस आज फार्क के चीफ कमांडर हैं।

कोलंबिया के आंतरिक वर्ग संघर्ष को तब तक ठीक से नहीं समझा जा सकता जब तक यह न समझ लिया जाय कि कोलंबिया के मामलों में लगभग एक शताब्दी तक अमेरिका बहुत गहराई के साथ जुड़ा हुआ था। 1903 में अमेरिका ने कोलंबिया से पनामा के अलग होने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई ताकि वह अपने नियंत्रण में पनामा नहर का निर्माण कर सके। 1950 के दशक में अमेरिका ने कोलंबिया को विद्रोहियों से निपटने के लिए प्रशिक्षण देना शुरू किया और 1955 में इसने कोलंबिया के सैनिक तानाशाह गुस्तागो रोजास पीनिला (जो 1953 के सैनिक तख्तापलट के बाद सत्ता में आये थे) को 17 करोड़ डॉलर का कर्ज दिया ताकि वे छापामारों के खिलाफ युद्ध छेड़ सकें। लिबरल पार्टी और कंजर्वेटिव पार्टी के बीच एक समझौते के फलस्वरूप रोजास पीनिला को उनके पद से हटाया जा सका और तब छापामारों ने अपने को मजबूत करते हुए आर्थिक स्वशासन के आधार पर 'स्वतंत्र गणराज्यों' की स्थापना की। 1964 में इन विद्रोही इलाकों पर सेना ने जबर्दस्त हमला किया और हालत यह हो गयी कि छापामारों को दक्षिण पश्चिम के पहाड़ों की ओर भागना पड़ा। इसी वर्ष फार्क की स्थापना हुई और जल्दी ही इसने सशस्त्र संघर्ष की घोषणा की।

चाहे लिबरल पार्टी की सरकार हो या कंजर्वेटिव पार्टी की- दोनों ने फार्क तथा

एक लंबे संघर्ष का समापन

1960 और 1970 के दशक में बने अनेक कई सशस्त्र समूहों को ध्वस्त करने की नीति अपनायी। इसके साथ ही इसने ऐसे कार्यक्रम लिए जिससे ग्रामीण क्षेत्रों में भी पूंजीवादी अर्थव्यवस्था मजबूत हो सके। इस प्रक्रिया के तहत बड़े पैमाने पर किसानों को उनकी जमीन से बेदखल किया गया। किसानों ने इसके खिलाफ संघर्ष किया लेकिन हार कर मजबूरन उन्हें शहर का रुख करना पड़ा जहां वे मजदूरी करके अपना गुजर बसर चलाने लगे। इसी प्रक्रिया में उनका संपर्क फार्क से हुआ और इस प्रकार विद्रोहियों की सेना को भारी संख्या में लोग मिले।

अमेरिका ने फार्क पर लगातार आरोप लगाया कि इसके लोग नशीली दवाओं के व्यापार के जरिए पैसा जुटा रहे हैं और हथियार खरीद रहे हैं। दरअसल अमेरिका को इस बात का डर था कि कोलंबिया में कहीं समाजवाद की स्थापना न हो जाय। 1980 के दशक के बाद से सरकार को फार्क की बढ़ती ताकत को स्वीकार करना पड़ा क्योंकि देश के काफी बड़े हिस्से में इसका प्रभाव हो गया था। इसने कोलंबिया के सैनिकों से छीनकर और अवैध तरीके से बाजार से खरीद कर आधुनिक हथियारों का काफी बड़ा भंडार जुटा लिया था। सरकारी इंफ्रास्ट्रक्चर और तेल की पाइप लाइनों को नष्ट करना, राजनीतिज्ञों और व्यापारियों का अपहरण करना तथा सरकार के साथ मिलकर इनको नुकसान पहुंचाने वाले तत्वों का सफाया करना- फार्क की यह प्रमुख कार्यनीति थी। फार्क की ताकत में तेजी से वृद्धि हुई। इस वृद्धि की व्याख्या करने में हमें दो मुख्य कारक दिखायी देते हैं। पहला तो यह कि सरकार द्वारा सतही तौर पर विकास का डंका पीटने के बावजूद सच्चाई यह थी कि कोलंबियाई जनता का एक बहुत बड़ा हिस्सा भीषण गरीबी में जिंदगी गुजार रहा था। आधी से अधिक आबादी सरकार द्वारा निर्धारित गरीबी रेखा से नीचे थी। विपक्षी गुटों के खिलाफ सरकार का दमन जारी था। ट्रेड यूनियन के जितने नेताओं की कोलंबिया में हत्या हुई उतनी अन्य देशों में दुर्लभ है। फार्क पर आरोप लगाया गया कि वह अपनी सेना में बच्चों की भर्ती करता है।

यह सही है कि छापामार के रूप में बच्चों की भर्ती नहीं की जानी चाहिए। लेकिन बच्चे तो शहर की गलियों में नशा बेच रहे हैं। संयुक्त राष्ट्र के अनुसार कोलंबिया की आबादी में 41 प्रतिशत बच्चे हैं। इनमें से 65 लाख गरीबी की स्थितियों में जिंदगी गुजार रहे हैं और 12 लाख तो निहायत गरीब हैं। 30 हजार बच्चे सड़कों पर रहते हैं, 47 प्रतिशत ऐसे हैं जिनसे उनके मां बाप ऐसे काम कराते हैं जो बच्चों को शोभा नहीं देता और 25 लाख बच्चे अत्यंत जोखिम बाले कामों में लगे हैं। इन बच्चों की मुलाकात छापामारों से होती है। इन बच्चों के मां बाप सैनिक अथवा अर्द्धसैनिक बलों द्वारा मारे गये हैं और ये छापामारों से अनुरोध करते हैं कि वे इन्हें अपने पास रख लें। हम अपने उस नियम का पालन करते हैं कि 15 वर्ष से कम आयु के किसी भी व्यक्ति को सेना में भर्ती न किया जाय।

फार्क के नियंत्रण वाले इलाकों में किसानों के साथ अच्छा सुलूक किया जाता है। कहवा खरीदने वालों और कहवा की खेती करने वाले बड़े किसानों पर टैक्स लगाया जाता है और इससे जो पैसे प्राप्त होते हैं उनसे न केवल फार्क के क्रांतिकारी युद्ध को मदद दी जाती है बल्कि उसे इलाके के विकास में भी खर्च किया जाता है। फार्क की सैनिक सफलताओं से गरीबों को प्रोत्साहन मिलता है क्योंकि उन्हें लगता है कि उनके उत्पीड़कों को भी कोई सबक सिखा सकता है। इलाके में स्कूल खोलना, मकान बनवाना, न्याय दिलाना, महिलाओं की महत्वपूर्ण भूमिका सुनिश्चित करना- ये सारी बातें फार्क के सकारात्मक पहलू हैं।

कोलंबिया की कम्युनिस्ट पार्टी में ही फार्क की जड़ें रही हैं और इसे ध्यान में रखते हुए यह समझना मुश्किल नहीं है कि अगर फार्क सत्ता में आ गया तो वह क्या करेगा। कोलंबिया की सरकार और इसकी सेना को अमेरिका ने 'प्लॉन कोलंबिया' के तहत जितने बड़े पैमाने पर समर्थन दिया है और जिस तरह छापामारों के खिलाफ इसने युद्ध छेड़ रखा है उससे यह आसानी से समझा जा सकता है कि दक्षिण अमेरिका के इस महत्वपूर्ण देश में पूंजीवाद के लिए फार्क सही अर्थों में एक खतरा है। अगर फार्क नशीली दवाओं का उत्पादक और वितरक होता तो अमेरिका को कोई चिंता नहीं होती।

कोलंबिया में नशे के खिलाफ युद्ध का अमेरिका का अभियान एक नाटक है- वह इसकी आड़ में कम्युनिस्टों का दमन करता है। लातिन अमेरिका एक उथल पुथल के दौर से गुजर रहा है और आप गौर करेंगे कि वेनेजुएला, एक्वाडोर, अर्जेंटीना, ब्राजील तथा अधिकांश अन्य देशों में पूंजीवाद विरोधी भावना लगातार मजबूत होती जा रही है। कोलंबिया में क्रांतिकारी शक्तियों की विजय को कॉरपोरेट पूंजीवाद अपने लिए एक बहुत बड़ी आफत समझता है।

अगर फार्क को केवल कोलंबिया की सरकार से निपटना होता तो उतनी मुश्किल नहीं होती लेकिन यहां तो हालत यह है कि दुनिया की सारी प्रभुत्ववादी ताकतें फार्क के खिलाफ एकजुट हैं जिसने इसकी लड़ाई को काफी कठिन बना दिया है।

(यह लेख
'समकालीन तीसरी दुनिया' के
फरवरी 2013 में प्रकाशित हो चुका है।)

कोलंबिया-कुछ तथ्य

आधिकारिक नाम	:	कोलंबिया गणराज्य
राजधानी	:	बोगोटा (आबादी 70 लाख)
अन्य प्रमुख शहर	:	मेडेलिन, काली, बारांकिला, कार्टाजेना
क्षेत्रफल	:	12 लाख वर्ग किलोमीटर
आबादी	:	4 करोड़ 36 लाख
धर्म	:	रोमन कैथोलिक 90 प्रतिशत
भाषा	:	स्पानी
साक्षरता	:	92.5 प्रतिशत (2000)

कोलंबिया को 20 जुलाई 1810 को स्पेन से आजादी मिली। यह ब्राजील और मेक्सिको के बाद लातिन अमेरिका का तीसरा सबसे बड़ा देश है।

माओवादियों से कैसे होगी बात?

विश्वरंजन

कोलंबिया के कम्युनिस्ट छापामारों के साथ सरकार के शांति समझौते के संदर्भ में छत्तीसगढ़ के पूर्व पुलिस महानिदेशक विश्वरंजन की एक टिप्पणी कुछ अखबारों में प्रकाशित हुई है जिसे हम यहां पुनः प्रकाशित कर रहे हैं ताकि उस सर्वोच्च अधिकारी की सोच को हमारे पाठक समझ सकें जिसने भारत के माओवादी क्रांतिकारियों से निपटने में एक लंबा वक्त गुजारा। विश्वरंजन की इस टिप्पणी से कई बिंदुओं पर असहमति की गुंजाइश बनी रहती है मसलन उनका यह कहना कि कोलंबिया के छापामारों की तरह भारतीय माओवादियों ने भी बस्तर और झारखंड में नशीले पदार्थों के व्यापार से धन जुटाया। उनका यह भी कहना बहुत आत्मगत लगता है कि कोलंबिया में युद्धविराम के बाद भारत के बहुत सारे बुद्धिजीवियों ने भी मांग उठाना शुरू कर दिया है कि भारत में माओवादियों के साथ शांति स्थापित करने की पहल करनी चाहिए। अतीत में भारतीय माओवादियों के साथ शांतिवार्ता या वार्ता के लिए किए गए प्रयासों के समय भारत सरकार ने किस तरह धोखे से माओवादी नेताओं की हत्याएं करायी जिसकी वजह से वार्ता का रास्ता फिलहाल बंद हो गया है, इस पर विश्वरंजन पूरी तरह खामोश हैं। बेशक उनके इस निष्कर्ष से यहां के माओवादियों का मनोबल जरूर बढ़ेगा जिसमें उन्होंने कहा है कि 'भारत में माओवादियों में न तो बिखराव नजर आ रहा है न ही उनमें कोई थकान का अनुभव किया जा रहा है... किसी भी बड़े माओवादी नेता ने आत्मसमर्पण नहीं किया है और न ही कनिष्ठ स्तर के माओवादियों के समर्पण से माओवादी हौसलों में कोई गिरावट आयी है।' छत्तीसगढ़ जैसे माओवादियों के सबसे मजबूत आधार क्षेत्र में तैनात किसी सर्वोच्च पुलिस अधिकारी की यह टिप्पणी दिलचस्प है और पढ़ने योग्य है। -सं.

23 जून 2016 को रेवोल्यूशनरी आर्म्ड फोर्सेस ऑफ कोलंबिया, जिसे 'फार्क' के नाम से जाना जाता है, और कोलंबिया की सरकार के बीच संधि प्रस्ताव पर हस्ताक्षर हो गया। कोलंबिया की यह रेवोल्यूशनरी पार्टी जो मार्क्सिस्ट-लेनिनिस्ट-माओवाद और चे गुवेरा के सिद्धांतों को मानती है, कोलंबिया में 1964 से शासन के साथ एक दीर्घकालीन हिंसात्मक युद्ध कर रही थी। 2015 में इस गुट ने एकतरफा शांति का प्रस्ताव रखा और युद्ध को रोक दिया। इसके बाद शासन से बातचीत के जरिए शांति बहाली की बात की तथा कोलंबिया के शासन से भी बहुत से इलाकों से सेना हटाने तथा आर्थिक सुधारों को जमीनी स्तर पर लाने हेतु पहल करने का आग्रह किया। साथ ही साथ गिरफ्तार रेवोल्यूशनरी समर्थकों की रिहाई की मांग भी की गई। शासन से वार्ता के लिये रेवोल्यूशनरी पार्टी का उच्चतम नेतृत्व सामने आया।

कोलंबिया का दीर्घकालीन माओवादी आंदोलन भारत के माओवादी सशस्त्र संघर्ष से बहुत मायनों में एक जैसा है। दोनों देशों में माओवादियों ने अपनी लड़ाई कमोबेश जंगलों में लड़ने का मन बनाया था। दोनों ने इस लड़ाई के लिये धन उन इलाकों में काम करने वाले कारखानों के मालिकों तथा व्यवसायियों पर दबाव डाल कर इकट्ठा किया। कोलंबिया के माओवादियों ने धन एकत्र करने के लिए ड्रग ट्रेड का भी इस्तेमाल किया। भारतीय माओवादियों ने भी बस्तर और झारखंड के कुछ इलाकों में गांजा और अफीम की खेती कराई, जिन्हें शासन द्वारा नष्ट किया गया। दोनों देशों के माओवादियों ने जंगल काटे और लकड़ियों को वन तस्करों को बेचा।

बस्तर में किसी भी बड़े माओवादी नेता ने आत्मसमर्पण नहीं किया है और न ही कनिष्ठ स्तर के माओवादियों के समर्पण से माओवादी हौसलों में कोई गिरावट आई है।

दोनों देशों के माओवादियों ने अवयस्क बच्चों के हाथों में हथियार पकड़ाये और अपने दीर्घकालीन युद्ध में इस्तेमाल किया। दोनों माओवादी संगठनों के सशस्त्र गुरिल्लाओं की संख्या 11,000 से 18,000 के बीच आंकी जाती रही है। जाहिर है, कोलंबिया में माओवादियों के बीच युद्ध विराम और शासन के साथ बातचीत के जरिए शांति बहाली के कारण भारत में बहुत सारे बुद्धिजीवियों ने भी मांग उठाना शुरू कर दिया है कि भारत में माओवादियों के साथ बातचीत का रास्ता अपनाते हुए शांति स्थापित करने की पहल करनी चाहिए। क्या भारत में भी इस तरह का पहल करने का समय आ गया है, इस पर निर्णायक समझ के लिए दोनों देशों के माओवादी युद्ध के विभिन्न चरणों को समझना जरूरी है।

कोलंबिया में 1998 से 2002 तक शांति वार्ता के असंख्य असफल प्रयास किये गये थे. 2002-2005 में कोलंबिया मिलिटरी तथा पैरामिलिटरी फोर्सेस ने माओवादियों पर इतना दबाव बनाया कि माओवादियों को पीछे हटने पर बाध्य होना पड़ा। हालांकि माओवादी छुटपुट आतंकी घटनाओं को अंजाम देते रहे। इसी बीच कोलंबिया में माओवादियों के खिलाफ व्यापक राजनैतिक माहौल बनाने की कोशिश की गई। इस पूरी अवधि में कोलंबियन फौज ने माओवादियों के खिलाफ जबर्दस्त दबाव बनाये रखा, जिससे माओवादियों में बिखराव और थकान के लक्षण साफ परिलक्षित होने लगे। 2012-14

में फिर शांति बहाली के लिए माओवादियों और कोलंबिया शासन के प्रतिनिधियों के बीच बातचीत शुरू हो गई।

भारत में स्थिति भिन्न है। भारत में माओवादियों में न ही बिखराव नजर आ रहा है और न ही माओवादियों में कोई थकान का अनुभव किया जा रहा है। यह सच है कि झारखंड में माओवादी संगठन में कुछ बिखराव आया है परंतु आज भी वहां का सबसे सशक्त माओवादी संगठन सीपीआई माओवादी ही है। बस्तर में काफी संख्या में माओवादियों ने आत्मसमर्पण किया, इस तथ्य को सीपीआई माओवादी के महासचिव गणपति ने माना भी है परंतु किसी भी बड़े माओवादी नेता ने आत्मसमर्पण नहीं किया है और न ही कनिष्ठ स्तर के माओवादियों के समर्पण से माओवादी हौसलों में कोई गिरावट आई है।

सुरक्षा बलों की हाल की कामयाबियां अंदरूनी बस्तर, झारखंड और बिहार के अंदरूनी इलाकों में माओवादी पकड़ को कमजोर करने में असफल रही हैं। जिस तरह कोलंबिया ने माओवादी विरोधी राजनैतिक एकता का परिचय दिया तथा माओवाद के खिलाफ जनमानस को संगठित किया गया, भारत में आज भी उसका नितांत अभाव है।

सबसे बड़ी बात यह है कि सीपीआई माओवादी के महासचिव गणपति, जो माओवादियों के सर्वोच्च नेता हैं; ने कभी भी शांति पहल की बात नहीं की। भारत में माओवादियों और शासन के बीच बातचीत की मध्यस्थता की बात कुछ सिविल सोसायटी के लोग करते रहे हैं जिसका कोई अर्थ नहीं निकलता। जब तक शांति-वार्तालाप का औपचारिक प्रस्ताव माओवादियों के पोलित-ब्यूरो से नहीं आये तब तक यह माना जा सकता है कि माओवादी शांति-वार्ता के लिए कम से कम आज तो तैयार नहीं हैं।

अब प्रश्न उठता है कि क्या शासन माओवादियों से वार्तालाप के लिए तैयार है? अगर है तो क्या उसने माओवादियों के शीर्षस्थ नेतृत्व से संपर्क स्थापित करने में फलता पाई है? क्या शासन ने अपनी इंटेलिजेंस एजेंसियों को इस काम में लगाया है? क्या सिविल सोसायटी, सोशल ऐक्टिविस्ट तथा माओवाद समर्थकों के साथ शासन सार्थक बातचीत शांति स्थापना के लिए कर रहा है? क्या शासन के पास कोई मसौदा तैयार है जिसके अंतर्गत शांति- वार्ता की शुरुआत की जा सके? आज की तारीख में ऐसा नहीं लगता है कि शासन ने इस ओर कोई भी सार्थक सोच की पहल की हो। बीच-बीच में शासकीय नुमाइंदों और राजनेताओं के ऐसे बयानों का कोई मतलब नहीं है कि माओवादी हमारे भटके हुए भाई हैं और उन्हें मुख्य धारा में जुड़ना चाहिए। इस बात का अर्थ तभी है, जब सरकार गंभीरतापूर्वक उपरोक्त प्रक्रियाओं पर विचार करे।

दूसरी ओर सरकार को यह भी समझना पड़ेगा कि माओवादी नेतृत्व किन स्थितियों में बातचीत करने के लिए राजी होगा? जब तक माओवादी नेतृत्व, पार्टी में बिखराव की स्थिति से सशंकित न हो जाये या पार्टी अपने आधार क्षेत्रों में लगातार तथा जबर्दस्त पुलिस दबाव महसूस न करने लगे तब तक वह क्यों शासन से बातचीत करने को राजी होगा? कोलंबिया में माओवादियों को अलग जमीनी हकीकत से मुखातिब होना पड़ा था, जिसके कारण उन्होंने शांति-संधि पर हस्ताक्षर किया। भारत में आज की तारीख में जमीनी हकीकत माओवादियों के बिल्कुल प्रतिकूल नहीं हुई है।

लेखक छत्तीसगढ़ के पूर्व पुलिस महानिदेशक एवं स्वतंत्र सुरक्षा समीक्षक हैं.

नवभारत से साभार

भारतीय माओवादियों की जनमुक्ति सेना के छापामार सैनिक अभ्यास करते हुए

उत्तर प्रदेश कांग्रेस

चेहरों के साथ जमीनी हालात भी बदलें

अटल तिवारी

उत्तर प्रदेश की जनता अखिलेश यादव के नेतृत्व वाली सपा सरकार से खफा है। वह विकल्प की तलाश में है। विकल्प की बात चलने पर लोग बसपा का नाम (वैसे 2012 में बसपा से तंग आकर सपा के युवा चेहरा अखिलेश यादव को विकल्प के तौर पर चुना था) लेते हैं। भाजपा भी विकल्प बनने के लिए कमर कसे है। लेकिन सबसे अधिक चकित करने वाली बात यह कि करीब 27 साल से राज्य की सत्ता से दूर बेजान सी कांग्रेस में जान आ गई है। उसने दो महीने में माहौल बदल दिया है। शहरों से लेकर गांवों तक मतदाताओं का एक धड़ा कांग्रेस का नाम ले रहा है। नेतृत्व के स्तर पर हुए प्रयोग का असर कार्यकर्ताओं पर पड़ा है, जिसकी बानगी शीला दीक्षित व राहुल गांधी के लखनऊ आगमन और सोनिया गांधी के बनारस दौरे के समय देखने को मिली। आम तौर पर प्रदेश कार्यालय का परिसर भरने के लिए सोनिया गांधी अथवा राहुल गांधी का इंतजार करने वाली राज्य इकाई के लिए यह किसी उम्मीद से कम नहीं था।

पिछले लोकसभा चुनाव के बाद हुए विधानसभा चुनावों में भाजपा जहां-जहां जीती है, उसमें सबसे बड़ा कारण कांग्रेस का कमजोर होना रहा है। हालात यह रहे कि कांग्रेस ने लड़ने से पहले ही हथियार डाल दिए। अगले साल उत्तर प्रदेश, उत्तराखंड, गुजरात, पंजाब, हिमाचल प्रदेश और गोवा विधानसभा के चुनाव होंगे। इसमें देश के सबसे बड़े राज्य उत्तर प्रदेश के चुनाव का खासा महत्व है। कांग्रेस चुनावी मैदान में हथियार डालने वाली पिछली गलतियों से सबक लेते हुए उत्तर प्रदेश के चुनाव में इस धारणा को खत्म करना चाहती है। वह संदेश देना चाहती है कि कांग्रेस मजबूती के साथ लड़ने को तैयार है। इसके लिए उसने नया ऐक्शन प्लान भी तैयार किया है, जिसके तहत उत्तर प्रदेश के प्रभारी (गुलाम नबी आजाद) समेत अध्यक्ष (राज बब्बर) और चार वरिष्ठ उपाध्यक्षों (राजेश मिश्रा, इमरान मसूद, राजाराम पाल, भगवती प्रसाद चौधरी) का मनोनयन किया गया है। कांग्रेस आलाकमान ने इन नियुक्तियों में ब्राह्मण, मुस्लिम, पिछड़ा व दलित समाज से ताल्लुक रखने वालों को जगह देकर संतुलन साधने का प्रयास किया है। प्रदेश की राजनीति में ये जातियां कभी कांग्रेस का जनाधार रही हैं। कांग्रेस के रणनीतिकार अच्छी तरह समझ रहे हैं कि अगर भाजपा के विजय रथ को 2017 में उत्तर प्रदेश में नहीं रोका गया तो 2019 के लोकसभा चुनाव में उसके लिए कुछ ज्यादा ही मुश्किल पेश आएगी। इसी बात को ध्यान में रखकर प्रशांत किशोर की टीम को चुनाव प्रबंधन के लिए हायर किया गया है। उनकी

राज बब्बर, शीला दीक्षित और रीता बहुगुणाः नए जोश के साथ मैदान में

मुलायम सिंह यादव, मायावती और अखिलेश यादवः चिर प्रतिद्वंद्वियों की टक्कर

प्रचार योजना के तहत ही नियुक्तियों में सोशल इंजीनियरिंग लागू की जा रही है। ब्राह्मण मतदाताओं को टारगेट करते हुए शीला दीक्षित को मुख्यमंत्री पद का उम्मीदवार बनाया है। पिछड़ी जाति से आने वाले राज बब्बर को सपा, बसपा और भाजपा के वोट बैंक में सेंध लगाने को कहा गया है। संजय सिंह को कैंपेन कमेटी का प्रमुख बनाकर राजपूत मतदाताओं को टारगेट कर सपा और भाजपा के वोटों में सेंध लगाने का प्रयास किया जा रहा है। राज बब्बर से पहले प्रदेश अध्यक्ष रहे डॉ. निर्मल खत्री को स्क्रीनिंग कमेटी का चेयरमैन बनाकर उनके कद को कम नहीं किया गया है। इस पूरी टीम में इमरान मसूद को बड़े मुस्लिम चेहरे के रूप में जगह मिली है। वह पश्चिमी उत्तर प्रदेश की मुस्लिम बाहुल्य सीटों पर प्रभाव रखते हैं। वैसे कांग्रेस खुद को भले भाजपा के मुकाबिल बता रही हो, लेकिन उसकी निगाह सपा और बसपा के वोटों पर है। मुस्लिम वोट को काबू करने के लिए वह हर तरह से प्रयास कर रही है। यही वजह है कि लोकसभा चुनाव के दौरान मोदी की बोटी-बोटी काटने जैसा बयान देने वाले इमरान मसूद को उपाध्यक्ष पद पर आसीन किया गया है। जाहिर है कि मजबूत चेहरे के साथ मुस्लिम एकजुट होंगे। ये मुस्लिम वोटर बीते दो दशक से बसपा और सपा के पक्ष में मतदान करते रहे हैं।

जहां तक फिल्म अभिनेता व राज्यसभा सांसद राज बब्बर को प्रदेश की कमान देने की बात है तो इसका प्रमुख कारण उनका प्रदेश कांग्रेस की गुटबाजी से दूर होना रहा। पिछले दिनों जब प्रशांत किशोर को पार्टी के चुनावी प्रबंधन की जिम्मेदारी सौंपी गई तो उन्होंने गुटबाजी को लेकर चिंता व्यक्त की थी। वरिष्ठ कांग्रेसी नेता दिग्विजय सिंह से लेकर सलमान खुर्शीद तक प्रदेश कांग्रेस में आमूलचूल बदलाव की जरूरत बता चुके थे। बताया जाता है कि प्रदेश प्रमुख की दावेदारी में अन्य नाम भी शामिल थे। हालांकि इन सभी नामों के साथ बड़ी दिक्कत यही थी कि इनका अपना एक-एक गुट प्रदेश कांग्रेस में बना हुआ है। वैसे राज बब्बर महज एक भीड़ खींचू अभिनेता नहीं बल्कि राजनीति का मुकम्मल प्रशिक्षण हासिल कर यहां तक पहुंचे हैं। अस्सी के दशक में वीपी सिंह से राजनीति का ककहरा सीखने वाले राज बब्बर 1989 में जनता दल में शामिल हुए थे। वीपी सिंह के साथ कांग्रेस के खिलाफ सभाएं कीं। बोफोर्स से लेकर अनेक मामलों को उठाकर कांग्रेस को घेरने का प्रयास किया, लेकिन मंडल आंदोलन के बाद वह वीपी सिंह से किनारा करते हुए सपा प्रमुख मुलायम सिंह यादव के साथ हो लिए। मुलायम ने उन्हें पहली बार 1994 में राज्यसभा भेजा। धीरे-धीरे राजनीति में उनका कद बढ़ता गया। इसी का नतीजा था कि मुलायम ने उन्हें 1996 में लखनऊ में अटल बिहारी वाजपेयी के खिलाफ चुनाव लड़ाया। इस चुनाव में वह हार अवश्य गए, लेकिन अटल बिहारी जैसे कद्दावर नेता के सामने लड़कर उन्होंने अपना सियासी कद पहले से अधिक बड़ा कर लिया। इसके बाद वह आगरा से सपा के टिकट पर सांसद बने। राज बब्बर अच्छे वक्ता हैं। समाजवाद में उनकी दिलचस्पी है। वह सिनेमा के ग्लैमर से नहीं बल्कि सियासी दमखम से राजनीति में आगे बढ़े हैं। यही वजह अमर सिंह से उनकी दूरी का कारण बनी। वह अमर सिंह से असहज महसूस करने लगे। एक समय ऐसा

भी आया कि उन्होंने अमर सिंह को दलाल तक कह दिया, जिसके कारण 2006 में उन्हें सपा से बाहर कर दिया गया। राज बब्बर इसकी परवाह न करते हुए कांग्रेस के पाले में चले गए और आने वाले लोकसभा चुनाव में वह सपा को टक्कर देते हुए नजर आए।

सपा प्रमुख मुलायम सिंह यादव के परिवार को केंद्र में रख कर कहा जाता है कि इटावा, मैनपुरी, फिरोजाबाद, एटा व कन्नौज आदि जिलों में उन्हें चुनौती देने वाले को मुंह की खानी पड़ती है। 2009 के लोकसभा चुनाव में अखिलेश यादव कन्नौज और फिरोजाबाद दोनों सीट से चुनाव जीते थे। तत्पश्चात उन्होंने फिरोजाबाद सीट छोड़ दी थी। यहां हुए उपचुनाव में मुलायम सिंह ने अपनी बहू डिंपल यादव (मुख्यमंत्री अखिलेश यादव की पत्नी) को मैदान में उतारा। यह राज बब्बर के ग्लैमर के साथ-साथ उनकी राजनीतिक परिपक्वता ही थी कि 2009 के आम चुनाव में जहां कांग्रेस को मात्र 6341 वोट मिले थे वहीं उपचुनाव में उन्हें जीत मिली। कांग्रेस प्रत्याशी के तौर पर उन्होंने डिंपल यादव को 86 हजार से ज्यादा मतों से हराया था। बताया जाता है कि कांग्रेस आलाकमान की जिस बैठक में राज बब्बर को प्रदेश अध्यक्ष बनाने का फैसला लिया गया उसमें प्रियंका गांधी भी शामिल थीं। यानी राज बब्बर के नाम पर प्रियंका की सहमति थी, लेकिन यह देखने की बात होगी कि प्रियंका गांधी चुनाव प्रचार के दरम्यान राज बब्बर को कितना समय देती हैं। उनके सक्रिय हुए बिना राज बब्बर मौजूदा परिस्थितियों में बहुत अधिक बदलाव ला पाएंगे, इसको लेकर आशंका है। इसमें लेश मात्र का शक नहीं कि वह अच्छे वक्ता हैं। एक सुलझे हुए नेता हैं। लेकिन अकेले दम पर कांग्रेस के लिए वोट जुटा पाएंगे, यह कहना अभी जल्दबाजी होगा। वैसे भी 2014 के लोकसभा चुनाव में उनके खाते में नाकामी ही रही। मोदी लहर में उन्हें गाजियाबाद में भाजपा के वीके सिंह से हार का सामना करना पड़ा। इससे भी अधिक वह कांग्रेस प्रचार अभियान समिति के प्रभारी थे। प्रचार प्रभारी के तौर पर उन्हें बड़ी नाकामी मिली। ऐसे में उनके लिए उत्तर प्रदेश किसी

प्रशांत किशोरः चुनावी व्यूह रचना

अग्निपथ से कम नहीं होगा। सबसे बड़ी चुनौती पार्टी की गतिविधियों को जमीनी स्तर पर लागू करने की होगी। लंबे वक्त से पार्टी की गतिविधियां सुस्त पड़ी हैं। बड़े घटनाक्रमों पर केवल मुख्यालय से बयान जारी होते हैं। ज्यादा से ज्यादा पुतला दहन करके खानापूरी कर ली जाती है। डीजल-पेट्रोल के दामों में बढ़ोत्तरी एवं आसमान छूती महंगाई पर प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी के पोस्टरों पर कालिख पोत कर काम चलाया गया। इन गतिविधियों में पार्टी कार्यकर्ताओं का जुटान कम ही देखने को मिला। इसकी प्रमुख वजह प्रदेश के जिलों में कांग्रेस संगठन का मृतप्राय होना है। संगठन को चुस्त-दुरुस्त करने के लिए राज बब्बर को बड़े पैमाने पर फेरबदल करना होगा। पार्टी के ऊर्जावान लोगों को आगे लाना होगा। साथ ही आम जनता के मुद्दों को लेकर सड़क पर उतरना होगा। जनता को यह संदेश देना होगा कि कांग्रेस एक विकल्प के तौर पर खड़ी है।

राज बब्बर की नियुक्ति को भाजपा समेत सभी दलों के पिछड़ी जातियों पर दिए जा रहे जोर के लिहाज से अहम माना जा रहा है। साथ ही विरोधी दलों की काट के तौर पर भी देखा जा रहा है। कांग्रेस ने भाजपा (भाजपा ने हाल में पिछड़ी जाति से ताल्लुक रखने वाले केशव प्रसाद मौर्य को प्रदेश अध्यक्ष बनाया है) की काट करते हुए पिछड़ी जाति का ही अध्यक्ष देकर यह संदेश देने का प्रयास किया है कि उसकी नजर भी प्रदेश में 54 फीसदी पिछड़ी जाति से ताल्लुक रखने वाले मतदाताओं पर है। अभी इन मतदाताओं पर कमोबेश सपा का कब्जा रहा है। सपा में रह चुके राज बब्बर उसकी काट तलाश सकते हैं। रही बात भाजपा की तो जिन चीजों का लाभ उसे मिल सकता है, उन्हीं की काट के लिए कांग्रेस ने यह प्रयोग किए हैं। कांग्रेस के रणनीतिकार महसूस करते हैं कि अगर उन चीजों का लाभ भाजपा के पाले में जाने से रोक लिया गया तो उत्तर प्रदेश में भाजपा के विजय रथ को रोका जा सकता है। इन चीजों में पहली बात यह कि अपर कास्ट मतदाताओं के भाजपा में वापस जाने की संभावना व्यक्त की जा रही है। कभी ये भाजपा का परंपरागत वोट हुआ करता था, लेकिन प्रदेश में भाजपा के लगातार कमजोर होने के बाद ब्राह्मण और राजपूतों ने अलग-अलग मौकों पर अलग-अलग दलों में अपने ठिकाने तलाशे। कांग्रेस ने उन्हें एकतरफा भाजपा के पाले में वापस जाने से रोकने के लिए ही शीला दीक्षित और संजय सिंह को कमान सौंपी है। दो दशक से अधिक समय के बाद उत्तर प्रदेश की राजनीति में वापस लौटीं शीला दीक्षित को कांग्रेस प्रदेश में अपना सबसे बड़ा चेहरा बताने का प्रयास कर रही है। शीला के लखनऊ आगमन से पहले गुटबंदी की संभावनाओं को खत्म करने का प्रयास किया गया। प्रदेश के प्रभारी से लेकर अध्यक्ष तक को बदलना इसी कवायद का हिस्सा माना जाएगा। शीला के नाम के ऐलान के साथ ही उनके पहले आगमन को खास बनाने के लिए नवनियुक्त अध्यक्ष से लेकर प्रदेश कांग्रेस का हर बड़ा चेहरा उनके साथ रहा। रिमझिम बारिश के बीच प्रदेश भर से जुटे कांग्रेस शुभेच्छुओं का जोश देखकर प्रदेश मुख्यालय पहुंचते-पहुंचते शीला दीक्षित मंच टूटने से लगी चोट भूल गईं। कार्यकर्ताओं को प्रणाम कर उन्होंने लक्ष्य भी दे दिया-'अबकी बार-कांग्रेस सरकार।' कार्यकर्ताओं से संवाद करने में कद आड़े न आए इसके लिए शीला दीक्षित माइक लेकर आगे आ गईं। बोलीं-'मैं बहुत छोटी हूं। सबको दिखाई नहीं देती। अब मैं आगे आ गई हूं। सबको दिखाई दूंगी।' अपनी बात जारी रखते हुए उन्होंने कहा कि 'उत्तर प्रदेश सबसे बड़ा, लेकिन सबसे पिछड़ा प्रदेश है। लोगों तक यह बात इसी जोश से पहुंचाइए कि

कांग्रेस ही विकल्प बन सकती है। यह जाति, समुदाय और धर्म की नहीं बल्कि सभी की पार्टी है।' भीड़ देखकर उत्साहित कैंपेन कमेटी के चेयरमैन संजय सिंह ने कहा कि 2019 में राहुल गांधी को पीएम बनाने के लिए 2017 में कांग्रेस को 200 सीटें जीतनी होंगी। नेता विधानमंडल दल प्रदीप माथुर ने इस आंकड़े को बढ़ाकर 220 कर दिया।

शीला दीक्षित के राजनीतिक कद को मुलायम सिंह, मायावती व अखिलेश यादव के राजनीतिक कद से कम नहीं आंका जा सकता। अभी तक कांग्रेस मुंह छिपाने वाली हालत में होती थी। वह लोगों को यह विश्वास नहीं दिला पाती थी कि वह भी लड़ने के मूड में है। नब्बे के दशक में प्रदेश से कांग्रेस युग की समाप्ति के बाद उसके पास एक भी ऐसा चेहरा नहीं रह गया था जो सूबे की राजनीति में मुलायम सिंह यादव, मायावती, कल्याण सिंह अथवा राजनाथ सिंह के कद की बराबरी कर सके। दिल्ली की लगातार 15 साल मुख्यमंत्री रह चुकी शीला दीक्षित को उत्तर प्रदेश के कुछ कांग्रेसी दबी जुबान बाहरी बता रहे हैं। यह कुछ वैसा ही है जब उन्हें 1998 के लोकसभा चुनाव में पूर्वी दिल्ली से कांग्रेस का उम्मीदवार बनाया गया तो स्थानीय कांग्रेसियों ने ऐतराज जताते हुए कहा था कि वह तो उत्तर प्रदेश की रहने वाली हैं। ऐसा बताने वाले शीला दीक्षित को उत्तर प्रदेश के कांग्रेसी नेता उमाशंकर दीक्षित की बहू के तौर पर देखते थे। हालांकि इससे पहले वह 1984 में कन्नौज लोकसभा सीट से चुनाव जीतकर राजीव गांधी सरकार में राज्यमंत्री रह चुकी थीं। शीला दीक्षित 1998 के चुनाव में भाजपा के लालबिहारी तिवारी से भले पराजित हो गई थीं, लेकिन उस वक्त दिल्ली के किसी कांग्रेसी नेता में इतना दमखम नहीं था कि वह दिल्ली का चेहरा बन सके। चुनाव हारने के बाद उन्हें प्रदेश कांग्रेस अध्यक्ष बना दिया गया। उसी साल के अंत में हुआ दिल्ली विधानसभा चुनाव उनके ही नेतृत्व में लड़ा गया, जिसमें कांग्रेस को 70 सीटों में से 53 पर कामयाबी मिली। कांग्रेस आलाकमान का प्रयोग सफल रहा। प्रदेश कांग्रेस के जो नेता दबी जुबान यह कहते थे कि शीला दीक्षित जल्दी ही निपट

भाजपा के प्रदेश अध्यक्ष केशव प्रसाद मौर्य

जाएंगी यानी मुख्यमंत्री के तौर पर फेल हो जाएंगी, उन्हें मुंह की खानी पड़ी। अब इसे विडंबना ही कहा जाएगा कि जिस दिल्ली में शीला दीक्षित को बाहरी बताया गया था उसी दिल्ली वाले उन्हें अपना मानते हैं जबकि उत्तर प्रदेश के कुछ लोग उन्हें बाहरी बता रहे हैं।

राजनीति में समय का पहिया ऐसा घूमा कि कांग्रेस दिल्ली वाला प्रयोग उत्तर प्रदेश में भी आजमा रही है। शीला दीक्षित को प्रदेश का चेहरा और राज बब्बर को प्रदेश अध्यक्ष बनाने के पीछे यही रणनीति काम कर रही है। वैसे प्रदेश के तीन दशक के राजनीतिक इतिहास में बोफोर्स से लेकर मंडल और कमंडल में उलझी प्रदेश की राजनीति ने जितनी करवटें इस दरम्यान बदली हैं उतनी पहले कभी नहीं बदली। इसे आपातकाल के बाद हुए 1977 के चुनाव व कांग्रेस में होने वाली बगावत की घटनाओं को दरकिनार कर देखना होगा। पहले कांग्रेस ही सत्ता में रहती थी, लेकिन बोफोर्स घोटाला के साये में हुए 1989 के चुनाव में उत्तर प्रदेश में कांग्रेस को जो धक्का लगा, उससे वह 27 साल बाद भी नहीं उबर सकी। इस अंतराल में प्रदेश की राजनीति में अनेक चेहरे चमके। उनके दलों की राजनीति उनके आसपास घूमती रही। लोग इन चेहरों से करामात की उम्मीद भी पालने लगे। लेकिन असलियत यह थी कि इन चेहरों के चमकने में उनसे कहीं अधिक भूमिका उनके दलों की सोशल इंजीनियरिंग की थी। इस तरह कांग्रेस ने शीला दीक्षित को मुख्यमंत्री का उम्मीदवार घोषित कर भले चुनावी नैया पार करने का सपना पाल रखा हो, लेकिन पिछले तीन दशक का इतिहास बताता है कि चेहरे कभी सफलता की गारंटी नही रहे। चेहरों से अधिक खेल सियासी व सामाजिक समीकरणों का रहा है। समीकरण फिट बैठे तो चेहरे हिट हो गए। समीकरण गड़बड़ाए तो चेहरे धराशायी हो गए।

यह बात सही है कि प्रदेश की जनता अखिलेश यादव सरकार से खफा है। वह विकल्प की तलाश में है, लेकिन सवाल उठता है कि क्या कांग्रेस विकल्प बनने की स्थिति में है? शीला दीक्षित ब्राह्मण चेहरा हैं। उत्तर प्रदेश की हैं। दिल्ली में पंद्रह साल मुख्यमंत्री रहते उनकी छवि काम करने वाले एक नेता की बनी। कांग्रेस की नजर प्रदेश की इस बिरादरी के वोटरों पर है। लेकिन इसके साथ ही वह शीला दीक्षित की विकास वाली छवि को भी भुनाना चाहती है। शीला दीक्षित शासन चलाना जानती हैं। उनके पास विजन है। दिखावटी तामझाम से दूर रहती हैं। ऐसे में उन्हें उत्तर प्रदेश का चेहरा बनाते हुए कांग्रेस ने इन चीजों को भी ध्यान में रखा है। दिल्ली में राजनीति करते हुए उन्होंने अपने को दिल्ली वाला साबित करने के लिए अनेक जुमले गढ़े थे। अब उन्हें यूपी की बहू साबित करने के लिए नए सिरे से जुमले गढ़ने होंगे। साथ ही दिल्ली की मुख्यमंत्री रहते हुए पूर्वांचल विरोधी दिए गए अपने बयानों की काट भी खोजनी होगी, क्योंकि विरोधी दल उनके इन्हीं बयानों के जरिए उन पर हमला करने का प्रयास करेंगे।

कांग्रेस के रणनीतिकारों को रणनीति बनाते समय चुनावी इतिहास पर भी नजर डालनी होगी। साल 2012 के उत्तर प्रदेश विधानसभा चुनाव में कांग्रेस को मात्र 28 सीटें मिली थीं। उसके खाते में महज 8.61 प्रतिशत वोट आए थे। इस चुनाव में सत्ता हासिल करने वाली सपा को 29.13 प्रतिशत वोट मिले थे तो इसके पहले 2007 के चुनाव में सरकार बनाने वाली बसपा के खाते में 30.43 फीसदी वोट गिरे थे। प्रदेश में भाजपा की 1991 और 1996 में तब सरकार बनी थी जब उसकी झोली में क्रमशः 31.45 व 32.52 प्रतिशत वोट आए। इससे पहले प्रदेश में जब कांग्रेस की सरकार बनती थी तब उसके वोटों का प्रतिशत भी

कमोबेश इसी के आसपास रहता था। इस तरह सरकार बनाने वाले राजनीतिक दलों को मिलने वाले वोट प्रतिशत को देखने से पता चलता है कि कांग्रेस को सत्ता में लाने अथवा टक्कर में पहुंचाने के लिए शीला दीक्षित और राज बब्बर को करीब 20 फीसदी वोटों का इंतजाम करना होगा। लेकिन शीला दीक्षित के पास मुलायम सिंह यादव की तरह यादव, पिछड़ा और मुसलमानों का मिला-जुला आधार नहीं है। उनके पास मायावती जैसा दलित वोट बैंक नहीं है। उनके पास भाजपा जैसी पिछड़ों को टारगेट करने वाली रणनीति भी नहीं है। उनकी पार्टी के खाते में ऐसे किसी आंदोलन की उपलब्धि भी नहीं जुड़ी है जिससे उसके पक्ष में वोटों के गिरने की संभावना हो। ऐसे में शीला दीक्षित को उन समीकरणों पर काम करना होगा जो उनके चेहरे की चमक बढ़ाने के साथ कांग्रेस की चमक भी बढ़ा दें।

कांग्रेस की कमजोरी यह है कि गुजरात समेत पूरे देश में हो रहे दलित उत्पीड़न को लेकर वह आवाज बुलंद नहीं कर सकी है। उत्तर प्रदेश में भी लगातार दलित उत्पीड़न की घटनाएं घट रही हैं। वह यहां भी ऐसी घटनाओं के विरोध में उठने वाली आवाजों का नेतृत्व नहीं कर सकी। गन्ना बाहुल्य इस प्रदेश में किसानों की समस्याएं खत्म होने का नाम नहीं ले रहीं। कांग्रेस इन किसानों की भी लाठी नहीं बन सकी। लाखों की आबादी नदी कटान और बाढ़ जैसी त्रासदी से जूझ रही है, लेकिन यह समस्याएं शायद उसे दिखती नहीं। यही वजह है कि उसने थक-हार कर अपनी किश्ती राजनीति के नए मैनेजर प्रशांत किशोर (इससे पहले बिहार में नीतीश कुमार और केंद्र में नरेंद्र मोदी के मैनेजर रह चुके हैं) को थमा दी है। लेकिन प्रशांत का अब तक हार विहीन कॅरियर उत्तर प्रदेश में भी आगे बढ़ेगा, इसको लेकर आशंका है। उत्तर प्रदेश कांग्रेस के चुनावी प्रबंधन का काम संभालने वाले प्रशांत का शुरुआत में कहना था कि प्रियंका की सक्रियता के बिना प्रदेश में फिर से खड़ी होने वाली भाजपा, सत्ताधारी सपा और मजबूत वोट बैंक वाली बसपा के खिलाफ कांग्रेस को टक्कर में लाने की संभावना कम है। प्रदेश में मजबूत नेताओं का अभाव है। ऐसे में प्रदेश कांग्रेस गिड़गिड़ाने वाली स्थिति में गांधी-नेहरू परिवार के सहारे रहती है। बताया जाता है कि प्रशांत ने गांधी परिवार को इस बात के लिए मनाया कि उत्तर प्रदेश के चुनाव में कांग्रेस को एक चेहरा चाहिए। राजनीति में पूरा रस लेने वाला प्रदेश का वोटर अनजान चेहरे को वोट देना पसंद नहीं करेगा। कांग्रेस आलाकमान ने प्रशांत की इस बात को तवज्जो देते हुए ही शीला दीक्षित को मुख्यमंत्री पद के दावेदार के तौर पर उतारा है। साथ ही प्रदेश अध्यक्ष पद पर राज बब्बर की तैनाती समेत अनेक लोगों को जिम्मेदारी से लैस किया है।

प्रशांत किशोर की टीम उत्तर प्रदेश में कांग्रेस की नैया पार लगाने के लिए काम कर रही है। बताया जाता है कि विधानसभा चुनाव में कांग्रेस का टिकट चाहने वाले उम्मीदवारों से बूथ स्तर के कार्यकर्ताओं की सूची ली गई है, जिसकी जांच प्रशांत की टीम मौके पर जा कर कर रही है। राज बब्बर के पहले कांग्रेस अध्यक्ष की कमान संभालने वाले डॉ. निर्मल खत्री ने इस आशय का आदेश भी जारी कर दिया था। उम्मीदवारों से कहा गया कि अपने बूथ स्तर के कार्यकर्ताओं को मीटिंग के लिए तैयार रखें, जिसका समय जल्द ही घोषित किया जाएगा। उधर टीम प्रशांत ने कार्यकर्ताओं से फोन पर बात करके यह जांचा कि उनके दिए गए नाम और पते सही हैं अथवा नहीं। वह संभावित उम्मीदवार को जानते हैं या नहीं। इस पड़ताल के साथ ही प्रशांत ने सभी संभावित उम्मीदवारों को आदेश दिया है कि वे अपने सभी कार्यकर्ताओं को एक साथ एकत्र करके दिखाएं, जहां उनका एक और सत्यापन होगा। हर प्रत्याशी के लिए समय तय होगा कि उसे कब कार्यकर्ताओं को जुटाना है। इसके साथ ही चुनावी माहौल बनाने के लिए इलाहाबाद को मुख्यालय बनाने की तैयारी है। पार्टी यहीं से चुनाव प्रचार को कंट्रोल करेगी। पार्टी के सभी नेता यहीं रुकेंगे। जवाहरलाल नेहरू एवं इंदिरा गांधी की विरासत से जोड़कर इलाहाबाद से माहौल बनाने की कोशिश होगी। प्रचार में पुरानी विरासत का इस्तेमाल करने की तैयारी है।

उत्तर प्रदेश में कांग्रेस की चल रही तैयारी के बीच प्रशांत किशोर को लेकर पार्टी में खींचातानी भी चलने की खबरें हैं। एक पक्ष मानता है कि प्रशांत की रणनीति वाला प्रचार हलचल पैदा करेगा। मीडिया में जगह घेरेगा। कार्यकर्ताओं का मनोबल बढ़ाएगा। वहीं दूसरे पक्ष का मानना है कि इस प्रकार की रणनीति पार्टी के लिए आत्मघाती है। प्रशांत किशोर टीम की कार्यशैली भी ऐसी है कि नेताओं का ऐतराज जताना स्वाभाविक है। प्रदेश कांग्रेस के दफ्तर में उनकी टीम एक बख्तरबंद घेरे में काम करती है। उस घेरे में पार्टी के एक-दो लोगों को छोड़कर किसी को भी जाने की इजाजत नहीं है। वहां क्या चल रहा है, पार्टी नेताओं को ही नहीं पता होता। शायद यही वजह है कि प्रशांत के फैलते दायरे के खिलाफ पार्टी नेताओं का एक वर्ग खफा है। आए दिन उनके कामकाज संबंधी रवैये को लेकर आलाकमान को शिकायतें मिल रही हैं। निश्चित तौर पर एक लोकतांत्रिक देश में मैनेजरों के जरिए राजनीति करना मतदाताओं के साथ मजाक है। देश के लोकतांत्रिक ढांचे को कमजोर करना है। इसके साथ ही उस दल के लिए भी कब्र खोदने जैसा है। लोगों को पार्टी से जोड़ने का काम नेताओं और कार्यकर्ताओं का है। लोग इस तरह जुड़कर ही दलों को वोट देते हैं। लेकिन जिस नक्शेकदम पर प्रशांत किशोर चल रहे हैं (यानी पैसा देकर कार्यकर्ताओं से काम करना) ऐसे में उन कार्यकर्ताओं पर गलत असर पड़ेगा, जो विचारधारा के स्तर पर जुड़कर पार्टी के लिए हमेशा मुफ्त में काम करते रहे हैं।

गौर करने वाली बात यह है कि टीम प्रशांत नारे गढ़ सकती है। जुमले गढ़ सकती है। बैनर बना सकती है। पोस्टर को आकार दे सकती है। सोशल मीडिया कैंपेन चला सकती है, लेकिन राजनीतिक स्तर पर लोगों को जोड़ने का काम तो पार्टी को ही करना होगा। अगर यह काम भी प्रशांत करते हैं तो यह हिंदुस्तान के लोकतंत्र के लिए कहीं से भी हितकर नहीं है। वैसे प्रशांत किशोर जुमले गढ़कर, पोस्टर-बैनर बनाकर, सोशल मीडिया पर अभियान चलाकर मतदाताओं को अपने साथ कितना जोड़ पाएंगे, यह 2017 के चुनाव में पता चलेगा। इसके साथ ही कांग्रेस के इस प्रयोग का भी खुलासा हो जाएगा। ❐

इरोम शर्मिला

शोभा सिंह

क्यों है
देश के लोकतंत्र से बड़ा
दमनकारी फौजी कानून
आफ्सपा
राष्ट्रवाद की नई किस्म
भारत माता के जय घोष के साथ
अपनों के खिलाफ
बर्बर
अघोषित-युद्ध छेड़ती
उसी घोषित
अशांत क्षेत्र की
चानू इरोम शर्मिला
पर्वत सरीखा तुम्हारा धैर्य
उतनी ही गहरी तुम्हारी नफरत
इंसानियत को शर्मसार करने वाले
काले कानून के खिलाफ
लामबंद
तुम एक दिन के लिए भी
भूली नहीं
कैसे तुम्हारी धरती को
बेगुनाहों के रक्त से रंजित किया
बूटों से रौद डाला
देह-घर-आत्मा
चूर-चूर कर दिया
स्वाभिमान
मणिपुर की उन मांओं का
सेना के मुख्यालय पर
निर्वसन प्रदर्शन
चुनौती भरी ललकार
गूंजती है सवाल बन
आज तक

पिछले सोलह साल
तुमने अन्न का एक भी दाना
नहीं खाया
नहीं पिया पानी
तुम्हारी प्यास कितनी गहरी कि
मानवता के अपराधी को
मिले माकूल सजा
तुम्हें अटूट विश्वास था
अपनी जय पर
इस खंडित तंत्र के
पूर्ण और बेहतर
रूपांतरण को
तुम बूझती हो
इरोम
सत्ता के दमनतंत्र में
बेहतरी के सपनों को
हकीकत में बदलना
बहुत कठिन है

तुम्हारी नाक में डली नली
तुम्हारे शरीर का हिस्सा बन गई
सत्याग्रह, जेल, अस्पताल बिस्तर
यहां भी
सुरक्षित रहा तुम्हारा उन्नत मनोबल
कमजोर चेहरे पर
पीली आभा
आंखों में जलता आशादीप
अगाध प्यार
अदम्य ख्वाहिश
मुक्ति की
जो थकने नहीं देती थी
उसमें अडिग साथी
तुम्हारे
पिछले कितने ही साल
घर आंगन-मां का मुख
सिर्फ सपने में
देखा
खिलती आश्वासन भरी मुस्कान
जल्द घर लौटूंगी-मां
कामयाबी की आस है

बहुत सी रातों बरसातों के बाद
आई थीं
राजधानी में
लोकतंत्र की आस्था
न्याय की गुहार लेकर
वे शायद डर गए थे
गिरफ्तार कर
छोड़ आए थे मणिपुर वापस
पराजय की हठी बन
हार नहीं मानी तुमने

देखने वालों को
गहरे आश्चर्य में डालती तुम
यह कैसी लगन थी
जहां तुम्हारा मैं समाप्त था
अपने राज्य की खुशहाली
अच्छी फसल के लिए
सेहतमंद बारिश सी लगती
जनतंत्र की बहाली
जंगल राज का खात्मा
वापसी काले कानूनों की
लम्बा सपना
आज संघर्ष से जुड़ी कड़ियां
टूटने लगती हैं
दिन रात क्या सोचती हो
चानू इरोम शर्मिला
खतरे की तेज घंटियों के बीच
अपने साथियों को निहारती

खूबसूरती के नए अर्थ की
तुप्ति से भर
सृजन करती
उम्मीद के गीत, कविताएं
हर उगते दिन का हिसाब रखती
इस बनी बनाई ठस्स व्यवस्था में
शांतिपूर्ण आंदोलन
गांधीवादी तरीका
आज के दौर में
जब है
इसकी प्रासंगिकता पर सवाल
फिर एकाकी आंदोलन
किस भ्रम में
क्या मनन करती हो
क्या वे बहरे हैं जो
मुखौटों के अजब घालमेल में
नकली रोमानियत प्रदर्शित करते
जुगाली देश प्रेम की
बड़ी पूंजी के पैरोकार
सच की आवाज कुचलने
का षड्यंत्र रचते
कभी-
वतन को गिरबी रख देने वाला माल
समझने का भयंकर खिलवाड़ करते
हां
तुम्हारी दृढ़ता ने
सवाल खड़े किए हैं
लोकतंत्र की जवाबदेही थी

वे मुकर गए
भयंकर तटस्थ दिखे
संवेदन शून्य
संघर्ष का रूप बदलना होगा
राजनीति ही यदि नियंता है
उसमें घुसना होगा
तुमने बेबाकी से
एलान किया
तोड़ रही हूं अनशन
सोलह साल बाद
सामान्य व्यक्ति की तरह
लड़ूंगी चुनाव
बदलूंगी दमनकारी कानून
शादी करूंगी
प्रेमी से
पतझर की याद में भी
नहीं सूखेगा बसंत
आफ्सपा जैसे कानून के खिलाफ
जंग जारी रहेगी
नई तरह की रणनीति
व्यवस्था को बदलने के लिए
व्यवस्था में पैठना पड़ेगा
उर्जा बचाकर
इस नए संघर्ष में लगाना
यूं यक्ष प्रश्न बना रहेगा
कितना बदलाव ला पाएंगे
बिना-पुराने ढांचे को तोड़े?
तुम्हारे जन को
तुम्हारी बात समझ नहीं आई
वे क्षुब्ध हैं
पिछड़ा चिंतन
दीवार बना
वे सिर्फ तुम्हारी शहादत चाहते
आत्म निर्णय का
अधिकार नहीं
यहां लड़ाई और कठिन हुई आयरन लेडी
उम्मीद पूरी है
तुम्हारी ताकत
कई-कई हाथों की ताकत में बढ़े
और बढ़ती जाए
दुनिया के नक्शे में
उभरा है
मणिपुर का नाम।

विगत 16 वर्षों से अनशन पर बैठी इरोम शर्मिला ने 9 अगस्त 2016 को अपन अनशन समाप्त करने की घोषणा की। उन्होंने सन 2000 में अपना यह अनशन इस मांग के साथ शुरू किया था कि मणिपुर से 'आर्म्ड फोर्सेज स्पेशल पॉवर्स ऐक्ट' हटाया जाए। सैनिकों द्वारा मनोरमा नामक महिला के साथ बलात्कार और फिर हत्या से क्षुब्ध होकर इरोम ने अपने इस शांतिपूर्ण आंदोलन की शुरुआत की थी। पिछले 16 वर्षों के दौरान उनपर आत्महत्या करने का मुकदमा दर्ज हुआ, उन्हें गिरफ्तार जबरन नली से खाना खिलाने की कोशिश की गयी परंतु वे अडिग रहीं। ऐसा लगता है कि जिस गांधीवादी तरीके से उन्होंने अपनी लड़ाई शुरू की थी उससे उनकी आस्था डिगी है लेकिन यह निर्विवाद रूप से सच है कि आफ्स्पा के खिलाफ देशभर में एक जनमत तैयार करने में उनके इस अनशन ने ऐतिहासिक भूमिका निभाई। उन्होंने अनशन समाप्ति की घोषणा के साथ इच्छा व्यक्त की कि अब वह विधानसभा का चुनाव लड़ेंगी ताकि मुख्य मंत्री बनकर इस काले कानून को समाप्त कर सकें। उनका यह वक्तव्य उनकी आंतरिक हताशा और राजनीतिक अपरिपक्वता को ही प्रदर्शित करता है यद्यपि उनकी भावना पर किसी भी तरह उंगली नहीं उठायी जा सकती।

मूर्खताओं की अमरता के दिन

रंजीत वर्मा

मूर्खताओं की अमरता के दिन हैं
गीत गाइये
हिंसा टपकती है यहां रात दिन
गीत गाइये
सत्ता की ताकत यहां निर्ममता का गाढ़ा रंग है
सफलता से ज्यादा अश्लील यहां कुछ भी नहीं
और एकजुटता यहां उन्माद है भरोसा नहीं
गीत गाइये

सामने अगर मूर्खता खड़ी हो
अपने पूरे वैभव हठ और हिंसा के साथ तो फिर
ऐसा घटाटोप जीवन में कोई और अंधेरा रच नहीं
सकता
ऐसे घटाटोप के खिलाफ असहिष्णुता बुरी चीज नहीं है
बल्कि एक उम्मीद की तरह है
यह भिन्न है उस असहिष्णुता से
जो सरकार की नुकीली पुतलियों से झांकती होती है
जब वह कहती है जीरो टॉलरेंस
जहां नफरत होती है और
सब कुछ लूट लेने का खाका लिए
एक अपराधी दिमाग अपने खून से सने हाथों में
देश का नक्शा लिए लगातार ढूंढ रहा होता है
कभी लोहा कभी बॉक्साइट कभी मस्जिद कभी संविधान
लगातार कुछ मिटा रहा होता है
कभी सपने कभी चैन

सरकार कहती है माओवाद
और शिकार मासूम आदिवासी होते हैं
वह कहती है आतंकवाद और
शिकंजे में मुसलमान होते हैं
धर्म जाति बोली पहनावा रंग
उसके लिए देश की खुशबू नहीं दरारे हैं
जिसका इस्तेमाल वह
आदमी के टुकड़े करने में करती है
वह भ्रष्टाचार को खत्म करने की बात करती है
लेकिन ईमानदारों का जीना दुश्वार कर देती है

इस देश में विकास एक तरीका है
मेहनत की कमाई हड़पने का
रीढ़ में बर्फ की कील ठोक देते हैं वो इस तरह
पिछले दो साल में लाखों लोग बेघरबार हुए
और हजारों किसानों के जीवन में
सांस लेने की जगह इतनी सिकुड़ गयी
अंधेरा इतना ठोस हो गया
कि उन्हें मजबूरन नहीं जीने का फैसला करना पड़ा
कई लोगों को तो फैसला लेने का मौका तक नहीं मिला
समझना मुश्किल नहीं कि उन्हें
कानून के रास्ते लूटा गया
मजबूर किया गया कि वे
लुटेरों के अरबपति बनने की राह से हट जाएं

वक्त बुरा है
अदालत बहुत दूर तक साथ चल नहीं पाएगी
वह अपराधियों के बयान पर
मासूमों के एनकाउंटर को सही मानेगी
और षडयंत्रकारियों की जांच को
अंतिम सच साबित कर
गिर जाएगी किसी प्राचीन मूर्ति की तरह
जेल से छूट कर आएगा हत्यारा
सैकड़ों की भीड़ तिरंगा हाथ में लिए उसका स्वागत करेगी
और वह तलवार लहराता
भारत माता की जय की धुन पर नाचेगा

भय आपको संगठित होने नहीं देगा
सूचनाएं आप तक पहुंच नहीं पाएंगी
सूचना के अधिकार का अंत
हमेशा की तरह हत्या पर होगा
शिक्षा का मकसद तकनीकी जानकारी होगा
जो नौकरी पाने तक सीमित होगा
इस तय सीमा से बाहर की शिक्षा को
सरकार के खिलाफ कार्रवाई की तरह देखा जाएगा
लेकिन मामला देशद्रोह का चलाया जाएगा
चाहे वह छात्र हो या शिक्षक
कोई किताब कोई पंक्ति कोई कविता
कोई नारा कोई झंडा कोई चुप्पी
या वह कोई संस्थान ही क्यों न हो नामी
शिनाख्त की जाएगी उन जगहों की उन ठिकानों की
फिर तोपखाने का मुंह उधर खोल दिया जाएगा

उन्हें पता है कि शिक्षा विचार में तब्दील हो जाती है

जब वह दलितों पिछड़ों आदिवासियों तक जाती है
जब वह अपने साथ युवा मस्तिष्क को लिए
देश की संकरी धमनियों में प्रवेश कर जाती है
जब वह उस कोने तक बेखौफ पहुंच जाती है
जहां आजादी नहीं पहुंची आज तक
जब वह हर जाति हर धर्म हर संप्रदाय के सुख-दुख
किसान मजदूर उनकी भूख उनकी आत्महत्या की कहानी
सभी को अपने साथ लेती चली जाती है
वह दर्शन के रास्ते कविता
और बार बार लौटकर आती जिंदगी तक जाती है
और पलक झपकते विस्फोट में बदल जाती है
फासिस्ट इस विस्फोट से डरता है

कवि मंगलेश डबराल को कहते सुना
पत्रकारिता अगर इतिहास का पहला ड्राफ्ट है तो
कविता इतिहास का अंतिम ड्राफ्ट है
फासिस्ट इतिहास के इस अंतिम ड्राफ्ट से डरता है
वह पहले ड्राफ्ट से भी डरता है
दरअसल वह इतिहास से डरता है
भय और लालच आदमी के मन से कहीं खत्म न हो जाए
वह इस सोच से डरता है
वह आजादी के गीत से डरता है
वह आजादी की धुन से डरता है
वह देशभक्ति की बात करता है
वह आजादी के सपनों से डरता है

आजाद हिंदुस्तान में देशभक्ति का उसका नारा
आजादी के विरोध में एक घृणित कार्रवाई है उसकी
उसके खतरनाक इरादों को समझिये
वह कहता है अब हमारी बारी है
68 साल का लंबा इंतजार है इसके पीछे
घात में रहे हम तब से
अब हम तुमसे छीनेंगे तुम्हारा यह देश
तुम्हारी यह स्वाधीनता
जिसे तुमने लड़कर कुर्बानियां देकर हासिल की थी
उसे हम धोखे और अफवाह से छीनेंगे
घृणा और हिंसा से छीनेंगे
सत्ता हमारे पास है हम तुम्हें गुमराह करेंगे
हम तुम्हारा सब कुछ अच्छे दिनों के अंधेरों से छीनेंगे

तो क्या अब यह देश हम सबका नहीं रहा
क्या हमारी भूख हमारी मौतें
हमारी सफलताएं हमारे सपने हमारे देश के नहीं रहे
अगर यह देश हमारी मां है तो कहां है उसका आंचल
कहां है उस आंचल की छांह
कौन चुरा रहा है उसका दूध
कौन लूट रहा है उसके सपने
जिसे मां ने हमारी आंखों में रोपे थे
-रोहित वेमुला की आंखें देखी थी आपने
मृत्यु के बाद भी वे आंखें खुली हुई थीं
सितारों तक जाते थे उन आंखों के सपने
जब डेल्टा मेघवाल की चिता जल रही थी
तब क्या वह मां ही थी जो जल रही थी
आखिर एक घमासान-सा क्यों मचा हुआ है
हर आहत मन में

बताओ कहां है हमारा देश
कहां से शुरू होती है
और कहां जाकर खत्म होती है हमारे देश की सरहद
हमारा फिंगरप्रिंट हमारी पुतली का रंग हमारा ब्लडग्रुप
भले ही दर्ज हों सब तुम्हारी फाइल में
लेकिन वह हम नहीं हैं वह हमारी शिनाख्त-भर है
देखना है हमें तो देखो कभी प्रिंट निकाल कर हमारी
भूख का हमारे दुख का
हमारी उम्मीद का हमारे देश का
हमारे सपनों के रंग हमारी इच्छाओं के पंख में हमें देखो

यह हमारा भी देश है पहले यह समझो
फिर हमारे अंदर का देश तुम्हें खुद दिख जाएगा
उसकी सरहद यहीं से शुरू होती है

यह झंडा इतना दूर ऊपर क्यों
उसे मेरे दिल के पास रहने दो
उसे यहां परचम-सा लहराने दो
फासिस्ट लहराते परचम से डरता क्यों है
फासिस्ट दिल के तारों के बजने से घबराता क्यों है
भगत सिंह के साहस और सरोकारों को
हमारे दिलों में धड़कता देख
वह इतना बौखलाया-सा क्यों है

इस व्यवस्था में
कोई भयानक लोकतांत्रिक चूक जरूर है
अगर भगत सिंह हमारे नायक हैं
तो बार बार हत्यारा चुन कर कैसे आ जाता है?

अमेरिकी चुनाव: त्रासदी में प्रहसन

स्वदेश कुमार सिन्हा

कार्ल मार्क्स का कथन है- 'विश्व इतिहास में सभी घटनाएं प्रायः दो बार घटित होती हैं; पहली त्रासदी वही दूसरी बार प्रहसन में बदल जाती है।' मार्क्स का यह कथन वर्तमान अमेरिकी चुनाव पर सटीक बैठता है। 7 नवंबर 2016 को होने वाला यह चुनाव दुनिया भर के अखबारों, टीवी चैनलों पर चर्चा में है। चैनलों पर चल रहीं अंतहीन बहसें उनकी टीआरपी बढ़ा रही हैं। तकरीबन समूचे विश्व के मीडिया तथा इंटरनेट पर अमेरिकी वर्चस्व के कारण वहां पर घटने वाली छोटी-मोटी घटना भी शीघ्र ही विश्वव्यापी हो जाती है, फिर यह तो विश्व के सबसे शक्तिशाली व्यक्ति माने जाने वाले अमेरिकी राष्ट्रपति का चुनाव है। अक्सर मीडिया की तड़क भड़क, विभिन्न उम्मीदवारों के बयान तथा उनके बीच मीडिया में चलने वाली बचकानी बहसों में इन चुनावों में मुख्य मुद्दे नदारद रहते हैं। अक्सर यह दिखाने की कोशिश की जाती है मानो डेमोक्रेट तथा रिपब्लिकन उम्मीदवारों के बीच चुनावों में कोई बड़ा विचारधारात्मक संघर्ष चल रहा हो परंतु जमीनी सच्चाई यह है कि अमेरिकी राजनीति प्रायः विचारधारा विहीन होती है। अगर गृह नीति के कुछ नगण्य मुद्दों को छोड़ दिया जाय तो विदेश नीति तथा रक्षा नीति के मुद्दों पर अमेरिकी सत्ताप्रतिष्ठान के बीच प्रायः आम सहमति रहती है।

परंतु इस बार ऐसा लगता है कि ट्रंप के बहाने इस चुनाव ने अमेरिका के राजनीतिक पटल पर उस अमेरिकी विचारधारा को सामने ला दिया है जो अभी तक सतह के नीचे ही रहती थी ओर वह है अमेरिकी फासीवाद। इस चुनाव में प्रत्याशी के तौर पर डेमोक्रेटिक पक्ष से हिलेरी क्लिंटन और रिपब्लिकन पार्टी की ओर से अनुदार अरबपति पूंजीपति उम्मीदवार डोनाल्ड ट्रंप की उम्मीदवारी तय हो गयी है। अपने चुनाव अभियानों में ट्रंप मुस्लिम अप्रवासियों से अमेरिका की नागरिक सुरक्षा ओर सांस्कृतिक अस्मिता पर खतरा बता कर उन पर अमेरिका में रोक लगाने की मांग कर रहे हैं। वे तथाकथित अमेरिकी गौरव की पुनर्स्थापना की बात कर रहे हैं। इन चुनावों में ट्रंप के नस्लवाद, मुस्लिम विरोध, शरणार्थियों के नस्लीय तथा धार्मिक द्वेष से ले कर 'राष्ट्र गौरव की पुनर्स्थापना' के नारों को एक बड़े श्वेत तथा अमेरिकी मध्यवर्ग तथा कामगारों का जबर्दस्त समर्थन मिल रहा था तथा वे अब तक राष्ट्रपति पद के सबसे प्रबल दावेदार माने जा रहे थे। परंतु अब उनके सुर बदल रहे हैं। वे अब 'समग्र राष्ट्र' की बात कर रहे हैं जिसमें सभी समान रूप से रह सकें। वे कथित तौर पर अब्राहम लिंकन के समय का सद्भाव एक बार फिर पैदा करना चाहते हैं। ट्रंप के इन बदले हुए बयानों से शायद यह भ्रम पैदा हो कि अमेरिकी लाकतंत्र की ताकत ने उन्हें बदल दिया है परंतु वास्तविकता यह है कि उन्होंने अश्वेत वोटरों को लुभाने के लिए यह दांव खेला है। वे डेमोक्रेटिक पार्टी की आब्रजन नीति की आलोचना करते हैं जो अश्वेतों को नौकरी पाने से रोकती है। वे कहते हैं कि 'हिलेरी शरणार्थी के रूप में रह रहे बाहरी लोगों को नौकरी दे सकती हैं लेकिन अश्वेत अमेरिकियों को नहीं। रिपब्लिकन की सरकार बनी तो नौकरियों पर अमेरिकी लोगों का पहला हक होगा।' ट्रंप के इस बदले सुर को देखा जाय तो अप्रवासियों के प्रति नफरत की उनकी पुरानी नीति में कोई बहुत बड़ा परिवर्तन नहीं आया है।

अमेरिकी लोकतंत्र, मिथक और यथार्थ: अमेरिकी चुनाव में ट्रंप परिघटना की आर्थिक-सामाजिक पृष्ठभूमि की चर्चा करने से पहले दुनिया के इस सबसे पुरानं तथा मजबूत लोकतंत्र की सच्चाई की पड़ताल जरूरी है। वास्तव में ट्रंप की फासीवादी राजनीति के बीज अमेरिका के इतिहास और वर्तमान में निहित हैं। प्रसिद्ध अमेरिकी इतिहासकार हॉवर्ड जिन ने अपनी बहुचर्चित पुस्तक 'पीपुल्स हिस्ट्री ऑफ अमेरिका' में लिखा है-''अमेरिका पर यूरोपीय कब्जा उस युग के इतिहास की महान त्रासदियों में सबसे बड़ी थी। मूल अमेरिकी रेड इंडियन की एक तिहाई आबादी अत्यधिक श्रम तथा कत्लेआम से समाप्त हेा गयी, तथा मूल निवासी मुट्ठी भर रह गये।'' इस भयानक हत्याकांड की पीड़ा को अमेरिकी समाज ने कभी महसूस नहीं किया, इतिहास की आम पुस्तकें भी इस बारे में अक्सर मौन साधे रहती हैं। 20वीं सदी में अमेरिकी जीवन शैली की रक्षा के नाम पर वियतनाम युद्ध से लेकर खाड़ी युद्ध लड़े गये, जिसमें लाखों की संख्या में लेाग मारे गये। शीतयुद्ध के दौरान तथा उसके बाद भी एशिया, अफ्रीका तथा लातिन अमेरिका के ढेरो लोकप्रिय वामपंथी तथा राष्ट्रवादी नेताओं (जिनमें चिली के राष्ट्रपति अयेन्दे, कांगो के राष्ट्रवादी नेता पैट्रिस लुमुंबा से लेकर चेग्वारा तक) की हत्याओं में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अमेरिकी सत्ता प्रतिष्ठान का हाथ था। निकारागुआ, एल सल्वाडोर, पनामा आदि देशों में वामपंथी सरकारों का विरोध करने वाली ताकतों को समर्थन देने से लेकर, 60 के दशक में इंडोनेशिया में लाखों कम्युनिस्टों के कत्लेआम में अमेरिका की सीधी भागीदारी रही थी। अपने रणनीतिक हितों को साधने के लिए अमेरिका के किस तरह दुनिया भर के फासिस्टों तथा तानाशाहों का समर्थन किया इसका विस्तृत वर्णन नोम चोमस्की सहित अनेक अमेरिकी प्रगतिशील लेखकों ने दिया है। वास्तव में इन सभी कारणों से तथाकथित व अमेरिकी लोकतंत्र में फासीवादी की जड़ें बहुत गहराई से पैठी हुई है।

ट्रंप के फासीवाद की आर्थिक सामाजिक पृष्ठभूमि: आज अगर दुनियाभर में, अनुदारवाद, धार्मिक कट्टरता तथा फासीवाद की लहर हावी है तो कहीं न कहीं इसके लिए अमेरिकी सत्ता प्रतिष्ठान भी जिम्मेदर है।

गुजरात 2002 में नरेन्द्र मोदी के मुख्यमंत्रित्व काल में हुए भयानक सांप्रदायिक दंगे, जिसमें हजारों अल्पसंख्यकों का कत्लेआम हुआ था, राज्य प्रायोजित थे, तथा इसमें मुख्य

डोनाल्ड ट्रम्प और हिलेरी क्लिंटन : राष्ट्रपति पद की होड़

मंत्री की सीधी भागीदारी के अनेक प्रमाणों के कारण नरेन्द्र मोदी को लबे समय तक अमेरिकी वीजा नहीं मिल सका। परंतु उनके प्रधानमंत्री बनते ही न केवल उन्हें वीजा मिल गया बल्कि आज तो भारत अमेरिका का दक्षिण पूर्व एशिया में सबसे बड़ा रणनीतिज्ञ साझीदार भी बन गया है। आज संघ परिवार के फासीवाद से अमेरिका को कोई परहेज नहीं है। आज संपूर्ण यूरोप, अफ्रीका, एशिया, तथा लातिन अमेरिकी देशों, फ्रांस, नीदरलैंड, आस्ट्रिया, स्वीडन, डेनमार्क, हंगरी में भी अनुदारवादी पार्टियों तथा राजनेताओं की लोकप्रियता बढ़ रही है जिन्हें अमेरिकी सत्ता प्रतिष्ठान का खुला समर्थन प्राप्त है। इसके ठीक विपरीत वेनेजुएला, ब्राजील, ग्रीस जैसे देशों की प्रगतिशील सरकारों को लगातार अस्थिर करने तथा उनके विरोधियों को लगातार सहायता मुहैया करने के काम में अमेरिका लगा हुआ है।

नब्बे के दशक में सोवियत संघ तथा पूर्वी यूरोप के देशों में समाजवादी सत्ताओं के पतन तथा सोवियत संघ के विघटन के बाद तत्कालीन अमेरिकी राष्ट्रपति डोनाल्ड रीगन न बड़े दंभ के साथ शीतयुद्ध जीत लेने का दावा किया तथा अमेरिका एकध्रुवीय महाशक्ति के रूप में उभरा। 'इतिहास का अंत' और 'पूंजीवाद की अंतिम विजय' की घोषणा की जाने लगी। परंतु यह स्थिति बहुत दिन नहीं चल सकती थी। शीघ्र ही अमेरिका अपने मित्र राष्ट्रों के साथ खाड़ी युद्धों में उलझ गया। दोनों खाड़ी युद्ध मानवता के प्रति सबसे बड़े अपराध थे तथा पहला युद्ध तो अमेरिका ने खाड़ी में पेट्रोलियम पर वर्चस्व के लिए लड़ा। 'अमेरिकी जीवन शैली की रक्षा' (दुनिया के कुल पेट्रोल उत्पादन का 80 प्रतिशत का उपयोग अकेले अमेरिका करता है) के नाम पर लाखों लोगों का खून बहाया गया। इसी की प्रतिक्रिया स्वरूप 9/11 की घटना हुई तथा उसे अफगानिस्तान और इराक में सैन्य का कार्रवाईयों में उलझना पड़ा जिसने अमेरिकी की आर्थिक रूप से कमर तोड़ दी। इन युद्धों के परिणामस्वरूप समूचे एशिया, अफ्रीका तथा यूरोप में अलकायदा, तालिबान, बोको हरम जैसे ढेरो अतिवादी संगठनों का जन्म हुआ। प्रारंभ में अमेरिका ने ही ढेरो ऐसे संगठनों को खुद आर्थिक तथा सैनिक सहायता देकर सोवियत संघ के खिलाफ खड़ा किया परंतु आज ये संगठन अमेरिका तथा संपूर्ण विश्व के लिए भारी खतरा बन गये हैं। सीरिया, लीबिया और इराक में सक्रिय इस्लामिक स्टेट नामक आतंकवादी कट्टरवादी संगठन की गतिविधियों ने सारे यूरोप, अमेरिका, अफ्रीका और एशिया तक को हिला दिया है। अमेरिका तथा उसके सहयोगी गठबंधन के देश रूस, ब्रिटेन, फ्रांस, जापान, आदि बड़े पैमाने पर मानवरहित ड्रोन विमानों से आईएस को समाप्त करने के लिए उसके क्षेत्रों पर भयानक बमबारी कर रहे हैं जिसने सारी दुनिया में भारी अस्थिरता पैदा कर दी है। इन युद्धरत देशों से भारी पैमाने पर शरणार्थी यूरोपीय देशों तथा अमेरिका में जा रहे हैं तथा इन देशों में भारी सामाजिक तथा आर्थिक असंतुलन पैदा कर रहे हैं। अगर आज यूरोप तथा अमेरिका में भारी पैमाने पर शरणार्थी पहुंच रहे हैं तो इसके लिए कहीं न कहीं उसकी (अमेरिका) युद्ध उन्मादी तथा वर्चस्व की नीति ही जिम्मेदार है।

अभी हाल में ही ब्रिटेन की 'चिलकॉट रिपोर्ट' में यह स्वीकार किया गया है कि खाड़ी युद्ध, जिसमें अमेरिका के साथ ब्रिटेन भी शामिल था, एक गलत फैसला था जो गलत 'खुफिया सूचनाओं' के आधार पर लड़ा गया। इसमें करीब सात से आठ लाख लोग मारे गये तथा इससे विश्व भर में कट्टरवादी ताकतों को बल मिला।

अमेरिका का संपूर्ण आर्थिक ढांचा उच्च श्रेणी की युद्ध सामग्री, नाभिकीय तथा मिसाइल टेक्नालॉजी के निर्माण तथा विश्व भर में इसके निर्यात पर निर्भर है। यह अमेरिका के हित में है कि दुनियाभर में छोटे-बड़े युद्ध तथा गृहयुद्ध हमेशा चलते रहें जिससे सैन्य हथियारों की होड़ बनी रहे तथा उनकी मांग लगातार बनी रहे। आज इस व्यापार में यूरोपीय देश इंग्लैंड, फ्रांस, जर्मनी के अलावा जापान और चीन भी शामिल हो गये हैं तथा इस क्षेत्र में भी उसका वर्चस्व टूटता नजर आ रहा है। सैनिक ताकत के बल पर दुनिया पर अमेरिका का वर्चस्व जरूर है, परंतु वह आज विश्व का सबसे कर्जदार मुल्क भी बन गया है। रूस, चीन, भारत, मैक्सिको, ब्राजील भी बड़ी अर्थव्यवस्थाओं के रूप में उभर रहे हैं तथा अफ्रीकी, एशियाई और लातिन अमेरिकी देशों की साम्राज्यवादी लूट में इनकी भी समान भागीदारी है। अमेरिका जैसे महाबली देश को ईरान, क्यूबा, उत्तरी कोरिया, जैसे छोटे देशों से भी अनेक मुद्दों पर शर्मिंदगी उठानी पड़ रही है।

अमेरिकी आर्थिक संकट और नस्लवादी तथा फासीवादी उभार: इन्हीं सब आर्थिक तथा राजनैतिक कारणों से अमेरिका का आर्थिक संकट निरंतर बढ़ रहा है। जल्दी-जल्दी आने वाली मंदियां उसके आर्थिक तंत्र को और संकटग्रस्त कर रही है। अगर कोई यह कहे कि आज 1930 जैसा आर्थिक संकट मौजूद नहीं है, इसलिए फासीवाद नहीं आ सकता तो वह यांत्रिकता का शिकार है। आज बेशक अमेरिका के पूंजीपति वर्ग को आकस्मिक तौर पर भयानक आर्थिक संकट का सामना नहीं करना पड़ रहा है पर 2015 की आर्थिक तिमाही में आर्थिक वृद्धि दर मात्र 0.7 ही रह गयी। इस संकट से उबरने के लिए वे 'ट्रंप' जैसे किसी भी ऐसे शासक को चुन सकते हैं जो उन्हीं की बिरादरी का हो, तथा अपने फासीवादी जुमलों के साथ नंगे तौर पर पूंजीपरस्त नीतियों को लागू कर सके। भारत में नरेन्द्र मोदी के उदाहरण से हम इसे और अच्छी तरह से समझ सकते हैं।

सन 2008 में अमेरिका के 'सब-प्राइम संकट' की वजह से लाखों लोग बेरोजगार हुए। इस महामंदी के कारण जनता का एक बड़ा तबका बेरोजगारी तथा गरीबी से ग्रस्त हुआ। इनका समर्थन ट्रंप को मिल रहा है। उनके कई जुमले भी लोगों में फासीवादी उन्माद पैदा कर रहे हैं। चाहे वह चीन से अमेरिकी कंपनियों को वापस लाने से पैदा होने वाले रोजगार की बात हो (जो महज एक शगूफा है) या जिन देशों से अमेरिका का व्यापार घाटा है उनसे आयात माल पर कर लगाकर पैसा वसूलने की बात हो या मैक्सिको व अमेरिका के बीच एक दीवार खड़ी करने की बात हो या मुसलमानों को अमेरिका में आने से रोकने और जो मौजूद हैं उनके पंजीकरण करने की बात हो, ट्रंप इन मुद्दों के जरिये गरीब आबादी के एक बड़े हिस्से में उन्मादपूर्ण आशा पैदा कर रहे हैं। यदि कहा जाए कि 'निम्न' तथा निम्न मध्य वर्ग को उनका एक नायक मिल गया है तो गलत न होगा। अमेरिका का बढ़ता आर्थिक संकट नस्लवाद और फासीवाद को भयानक रूप से बढ़ा रहा है। अमेरिका तथा पश्चिमी विश्व में आधुनिकता आने के साथ ही वहां पर सामुदायिक हिंसा करीब-करीब समाप्त हो गयी है। वहां गुजरात-2002 अथवा बोस्निया, रवांडा, जैसे सामूहिक नरसंहार की घटनायें फिलहाल नहीं हो सकतीं। 9/11 के बाद भी वहां मुसलमानों के खिलाफ कोई बड़ी हिंसा की घटना नहीं हुई थी, परंतु आज भी वहां पर नस्लभेद व्यापक तौर पर जारी है। जेलों में बंद नब्बे प्रतिशत कैदी अश्वेत हैं। अश्वेतों की यह आम शिकायत है कि हर क्षेत्र में उनके साथ व्यापक भेदभाव होता है। पिछले पांच वर्षों में वहां नस्लीय हिंसा में करीब 16 फीसदी इजाफा हुआ। पिछले साल 250 से ज्यादा अश्वेत नस्लीय हिंसा में मारे गये। इसी वर्ष जुलाई में टेक्सास के डलास में पुलिस द्वारा गोली चलाकर एक अश्वेत की हत्या के बाद वहां व्यापक नस्लीय हिंसा भड़कने से पांच पुलिसकर्मी भी मारे गये। इस बार के राष्ट्रपति चुनाव इन्हीं नस्लीय हिंसा के साए में होंगे। अमेरिका के दक्षिणी भागों में अभी व्यापक सामाजिक पिछड़ापन है जहां से ट्रंप को भारी समर्थन मिल रहा है। उनके नस्लीय बयानों से अमेरिका में अल्पसंख्यकों के खिलाफ नफरत तथा घृणा बढ़ रही है, जो भविष्य में व्यापक, सामुदायिक हिंसा का कारण भी बन सकती है। फिलहाल अमेरिका में जमीनी स्तर पर कोई बड़ा फासीवादी संगठन सक्रिय नहीं है। यद्यपि ओथकीपर्स जैसे संगठन जो सेना, पुलिस और नौकरशाही के बीच काम कर रहे हैं और इनके द्वारा चलाए जा रहे पैट्रियाटिक मूवमेंट में आम जनता का बहुत छोटा हिस्सा ही सक्रिय है। ट्रंप जैसे नेता तथा ओथकीपर्स जैसे संगठनों में आज भले उस तरह का संपर्क न हो परन्तु भविष्य में ये दोनों धाराएं आपस में मिल भी सकती है। डोनाल्ड ट्रंप चुनाव जीतें या न जीतें अमेरिका में दक्षिणपंथी उभार का खतरा लगातार बना ही रहेगा।

आज अमेरिका की जमीनी वास्तविकता यह है कि हिलेरी क्लिंटन तथा डोनाल्ड ट्रंप की राजनीति में बड़ा अंतर नहीं रह गया है। हिलेरी क्लिंटन के बारे में अनेक नारीवादी संगठन यह कह रहे हैं कि अगर वे राष्ट्रपति चुनी जाती हैं तो वे अमेरिकी इतिहास में पहली महिला राष्ट्रपति होगी। सच्चाई यह है कि सिनेटर के रूप में अपने कार्यकाल के दौरान उन्होंने सबसे ज्यादा विरोध उन विध ेयकों का किया जो महिलाओं के संदर्भ में आर्थिक तथा सामाजिक सुधारों के पक्ष में थे। उनकी व्यावहारिक नीतियां क्या हैं? उन पर भी गौर करने की जरूरत है। सरकार का जनसुविधाओं में निवेश कम करना, जन-आंदोलनों का दमन करना, 'गन लाबी' को समर्थन देना, इजरायल के साथ खूनी गठजोड़ बनाना, सीरिया, इराक अफगानिस्तान से लेकर यूक्रेन अफ्रीका तक में अमेरिकी बहुराष्ट्रीय कंपनियों के खूनी खेल को समर्थन ही उनकी व्यावहारिक कार्य तथा नितियां हैं। इसके मूल में है पूंजीपति वर्ग के मुनाफे की दर को बरकरार रखना जो विश्व भर में घनीभूत हो रहे आर्थिक संकट के कारण सिकुड़ती जा रही है।

अमेरिका में फासीवाद के उभार की तुलना भारत में 'संघ परिवार' के उभार से की जा सकती है। दुनियाभर में फासीवादी शासक चुनाव लड़कर सत्ता में आये हैं। अमेरिका तथा संपूर्ण पश्चिमी दुनिया में प्रतिरोध आंदोलनों का अभाव इस संकट को और भी घनीभूत कर रहा है। आक्यूपाई वाल स्ट्रीट (वाल स्ट्रीट पर कब्जा करो) जैसे अमेरिकी आंदोलन यथार्थ की अभिव्यक्ति तो करते हैं, लेकिन प्रतिरोध की बड़ी ताकत नहीं बन पाते हैं।

फिलहाल तीसरी दुनिया तथा पश्चिमी जगत में खड़े हो रहे जन आंदोलनों की सहभागिता ही विश्व को एक बड़े फासीवादी संकट से बचा सकती है। ❐

रघुराम राजन बनाम सुब्रमण्यम स्वामी

भारतीय पूंजीपतियों के आपसी अंतर्विरोध की अभिव्यक्ति

अर्जुन प्रसाद सिंह

नरेंद्र मोदी सरकार के दबाव और भाजपा के राज्य सभा सदस्य सुब्रमण्यम स्वामी की लंपट बयानबाजी से परेशान होकर जब 18 जून, 2016 को रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया के गवर्नर रघुराम राजन ने अपने कार्यकाल (4 सितंबर, 2016) की समाप्ति के बाद वापस बूथ स्कूल ऑफ बिजनेस, शिकागो विश्वविद्यालय जाकर प्रोफेसर ऑफ फायनंस का अपना पदभार संभालने की घोषणा की, तब इस पर न केवल विपक्षी दलों एवं मीडियाकर्मियों, बल्कि अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं, आर्थिक विशेषज्ञों एवं उद्योगपतियों के समूहों के बीच गंभीर प्रतिक्रियायें हुईं। उनकी शैक्षिक क्षेत्र में वापस लौटने की यह घोषणा उनके द्वारा रिजर्व बैंक के अपने सहयोगियों को लिखे गए संदेश के माध्यम से सामने आई, जिसे 'द इंडियन एक्सप्रेस' समेत कई राष्ट्रीय स्तर की पत्र-पत्रिकाओं ने प्रमुखता से छापा। राजन ने इस संदेश में न केवल अपने करीब तीन साल के कार्यकाल की उपलब्धियों, बल्कि बाकी बचे कर्मचारियों का भी संक्षिप्त विवरण पेश किया।

आखिर कौन सी ऐसी बुनियादी वजहें थीं, जिनके चलते रघुराम राजन को मोदी सरकार एवं सुब्रमण्यम स्वामी जैसे विवादास्पद राजनीतिज्ञ के दबाव एवं आक्रोश का सामना पड़ा? पहली वजह यह थी कि इधर कुछ महीनों से वित्त मंत्री अरुण जेटली राजन पर लगातार दबाव डाल रहे थे कि वे रेपो दर (जिस दर पर आरबीआई बैंकों से ब्याज लेता है) को 6.5 प्रतिशत से कम करें, जिसके लिए वे सहमत नहीं थे। दूसरे, राजन अपने कई वक्तव्यों के माध्यम से मोदी के महत्वाकांक्षी अभियान 'मेक इन इंडिया' एवं उनके शासन काल में तेजी से विकसित होते 'क्रोनी कैपिटलिज्म' पर सवाल खड़ा कर रहे थे। तीसरे, उन्होंने मोदी सरकार द्वारा 2013 से 2105 के बीच के 1.14 लाख करोड़ रुपये के 'खराब कर्जों' (Bad Loans) को माफ करने पर अपनी नाराजगी जताई थी और वे सार्वजनिक बैंकों की गैर निष्पादित परिसंपत्तियों (एनपीए) में हो रही बढ़ोत्तरी पर लगाम लगाना चाहते थे। चौथे, वे 2015-16 के वार्षिक विकास दर एवं उसकी गणना पद्धति को भी तर्कसंगत नहीं मान रहे थे। इसीलिये जब विश्व बैंक और अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की बैठक के दौरान भारतीय अर्थव्यवस्था को आर्थिक वृद्धि के लिहाज से 'एक चमकता बिंदु' बताया गया तो उन्होंने इसे 'अंधों में काना राजा' की संज्ञा दी। इन सबों के अलावा रघुराम राजन ने भाजपा के भारी बहुमत से केंद्र की सत्ता में आने और राजग सरकार के कार्यकाल में बढ़ती असहिष्णुता जैसे राजनीतिक मसलों पर भी प्रतिक्रिया जाहिर की। 20 फरवरी, 2016 को गोवा के एक आयोजन में भाषण देते हुए उन्होंने साफ शब्दों में कहा कि 'कोई जरूरी नहीं है कि मजबूत सरकारें सही दिशा में चलें... हिटलर की सरकार भी एक मजबूत सरकार थी, लेकिन वह कुशलतापूर्वक और दृढ़ता के साथ जर्मनी को बर्बादी के रास्ते पर ले गयी।' इसके बाद उन्होंने 11 मई, 2016 के कैम्ब्रिज के छात्रों को संबोधित करते हुए कहा- ''भारत में नीतियां बनाना आसान है, लेकिन उनका पालन करना कठिन है।'' इसी प्रकार राजन ने आईआईटी, दिल्ली में दिये गये अपने भाषण में देश में बढ़ती असहिष्णुता पर चिंता जाहिर की और किसी भी विचार के प्रति सहिष्णु होने की सलाह दी।

इतने सारे आर्थिक-राजनैतिक मतभेदों के साथ रघुराम राजन जैसे 'रॉकस्टार केंद्रीय बैंकर' के लिए स्वच्छंदता एवं स्वायत्तता के साथ काम करना काफी मुश्किल था। दूसरी ओर, मोदी सरकार ने तो लगभग तय ही कर लिया था कि आरबीआई के अन्य गवर्नरों की तरह राजन के कार्यकाल को तीन साल से आगे नहीं बढ़ाया जायेगा। इसी लक्ष्य के साथ वित्त मंत्री ने राजन पर अपना दवाब बनाना शुरू किया और कई अन्य मंत्रियों एवं भाजपा सांसदों ने उनके खिलाफ बयानबाजियां शुरू कीं। इस मामले में सुब्रमण्यम स्वामी ने तो सारी हदें पार करते हुए 12 मई, 2016 को अपने ट्विटर पर लिखा कि आरबीआई के गवर्नर ने सूद की दरों को ऊंचा रखकर उद्योगों को चौपट किया है, बेरोजगारी को बढ़ाया है और देश की संपूर्ण अर्थव्यवस्था को नुकसान पहुंचाया है। फिर इसके बाद 17 मई, 2016 को उन्होंने प्रधानमंत्री को पत्र लिखकर रघुराम राजन को तत्काल गवर्नर के पद से हटाने की मांग की। यहां तक कि इस पत्र में उन्होंने यह भी लिखा कि 'रघुराम राजन दिमागी तौर पर भारतीय नहीं हैं, अन्यथा वे हर साल अपना ग्रीन कॉर्ड का नवीकरण कराने आरबीआई के गवर्नर के तौर पर अमेरिका नहीं जाते।' सुब्रमण्यम स्वामी के इस प्रकार के वहशियाना हमले से राजन काफी परेशान हुए और अंततः उन्होंने वापस शैक्षिक जगत में लौटने का निर्णय लिया, जिसकी घोषणा 18 जून, 2016 के संदेश में की गई। हालांकि, इस घोषणा के चार दिन बाद बैंगलूर में एसोचैम द्वारा आयोजित एक मीटिंग को संबोधित करते हुए उन्होंने कहा-''मैंने अपने निधन के बहुत से वृत्तांतों को पढ़ा है, लेकिन अभी तक मैं जिंदा हूं। मैं अपना कार्यालय सितंबर में छोड़ दूंगा, लेकिन मैं अपने देश में अनेक अवसरों पर आता रहूंगा।'

राजन की वापसी के निर्णय पर प्रतिक्रियाएं: रघुराम जैसे एक सक्षम एवं रचनात्मक गवर्नर को अपना पद छोड़ने की घोषणा करने के लिए बाध्य करने के खिलाफ देश एवं दुनिया के स्तर पर आवाज उठना स्वाभाविक है। विश्व बैंक के प्रमुख अर्थशास्त्री एवं भारत के पूर्व मुख्य आर्थिक सलाहकार कौशिक बसु ने कहा कि रघुराम राजन रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया के सबसे बेहतरीन गवर्नरों में से एक हैं और उन्हें अपना कार्यभार पूरा करने देना चाहिए। नोबेल पुरस्कार विजेता अर्थशास्त्री अमर्त्य सेन ने कहा कि भारत दुनिया के सबसे कुशल आर्थिक विचारक को खोने जा रहा है, जो देश और सरकार के लिए भी दुखद है। साथ में उन्होंने यह भी कहा कि अब आरबीआई पूर्ण रूप से एक स्वायत्त संस्था नहीं रह गई है। भारतीय मूल के अर्थशास्त्री एवं ब्रिटेन की लेबर पार्टी के नेता मेघनाथ देसाई ने टिप्पणी की कि राजन की वापसी की घोषणा से विदेशों में भारत की छवि धूमिल हुई है। हार्वर्ड विश्वविद्यालय की प्रोफेसर गीता गोपीनाथ ने कहा- 'मुझे गहरी निराशा हुई है कि भारत सरकार उन्हें ऐसी तमाम अप्रिय टिप्पणियों के बीच जाने दे रही है जिनमें भारतीय हितों के प्रति राजन की प्रतिबद्धता पर सवाल खड़े किए गए हैं।' बूथ स्कूल ऑफ बिजनेस में कार्यरत राजन के सहयोगी लुईगी जिंगल्स ने प्रतिक्रिया व्यक्त की-'राजन आरबीआई छोड़कर बूथ आ रहे हैं, यह हमारे लिए बड़े फायदे और भारत के लिए बड़े नुकसान की बात है।'

देश के अंदर भी शासक वर्गीय दलों एवं पूंजीपतियों के एक बड़े हिस्से की ओर से गंभीर प्रतिक्रिया हुई। उद्योगपतियों के एक बड़े संगठन एसोचैम ने कहा कि राजन को ऐसे मुश्किल समय में आरबीआई छोड़कर जाने पर पुनर्विचार करना चाहिए। एचडीएफसी के चेयरमैन दीपक पारेख ने टिप्पणी की कि राजन को खोना एक दुखद बात है। इंफोसिस के मानद चेयरमैन एन आर नारायणमूर्ति ने कहा- 'यह खेद की बात है कि देश ऐसे समय में एक बेहद सक्षम अर्थशास्त्री की सेवाओं से वंचित हो रहा है।' वायोकॉन की चेयरपर्सन किरण मजुमदार ने विचार व्यक्त किया कि राजन के जाने के निर्णय से हमलोग निराश हैं। पूर्व वित्त सचिव अरविन्द मायाराम ने तो आगाह किया कि राजन द्वारा अपनी जवाबदेही का दूसरा टर्म नहीं लेने का निर्णय देश के लिए काफी मंहगा साबित होगा।

दूसरी ओर मोदी सरकार समर्थक पूंजीपतियों/उद्योगपतियों के खेमों ने राजन की विदाई पर खुशी जाहिर की और उनके द्वारा दूसरा टर्म (कार्यकाल) नहीं लेने के निर्णय को उनकी निजी पसंद के रूप में प्रचारित किया। देश के विपक्षी दलों में सबसे तीखी प्रतिक्रिया कांग्रेस एंव वामपंथी दलों की ओर से आई। उन्होंने कहा कि केंद्र की सत्ता पर बैठी फासीवादी ताकतों का रघुराम राजन पर हमला केवल व्यक्तिगत हमला नहीं है, बल्कि यह रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया जैसी स्वायत्त एवं संवैधानिक केंद्रीय संस्था पर हमला है।

सरकार एवं राजन के बीच विभेद की मूल अंतर्वस्तु: आखिरकार रघुराम राजन की वापसी के निर्णय पर हमारे देश के शासक वर्गों, खासकर बड़े पूंजीपतियों और उनके दलों के बीच इस प्रकार का विभाजन क्यों दिख रहा है? दरअसल हमारे देश में शासक वर्गों एवं उनके विभिन्न दलों/संगठनों के बीच का अंतर्विरोध, कई बुनियादी अंतर्विरोधों में से एक है। वे समय-समय पर विभिन्न तरीकों से मानवीय एवं प्राकृतिक संसाधनों की लूट में अपना हिस्सा बढ़ाने के लिए आपस में धींगा-मुश्ती और गलाकाट प्रतियोगिता करते रहते हैं। मोदी सरकार की उदार आर्थिक/वित्तीय नीति और आरबीआई गवर्नर के रूप में रघुराम राजन की अपेक्षाकृत कठोर वित्तीय सुदृढ़ीकरण की नीति के बीच का संघर्ष उनके इसी अंतर्विरोध का एक हिस्सा है। इस बात को ठीक से समझने के लिए पिछले 3 सालों के दौरान वित्तीय क्षेत्र में राजन द्वारा उठाये गए कदमों और उनसे उत्पन्न मोदी सरकार की नाराजगियों पर साथ-साथ गौर करना जरूरी होगा। आइये, हम इस मसले की बिंदुवार व्याख्या करें :

दरअसल हमारे देश में शासक वर्गों एवं उनके विभिन्न दलों/संगठनों के बीच का अंतर्विरोध, कई बुनियादी अंतर्विरोधों में से एक है। वे समय-समय पर विभिन्न तरीकों से मानवीय एवं प्राकृतिक संसाधनों की लूट में अपना हिस्सा बढ़ाने के लिए आपस में धींगा-मुश्ती और गलाकाट प्रतियोगिता करते रहते हैं। मोदी सरकार की उदार आर्थिक/वित्तीय नीति और आरबीआई गवर्नर के रूप में रघुराम राजन की अपेक्षाकृत कठोर वित्तीय सुदृढ़ीकरण की नीति के बीच का संघर्ष उनके इसी अंतर्विरोध का एक हिस्सा है। इस बात को ठीक से समझने के लिए पिछले 3 सालों के दौरान वित्तीय क्षेत्र में राजन द्वारा उठाये गए कदमों और उनसे उत्पन्न मोदी सरकार की नाराजगियों पर साथ-साथ गौर करना जरूरी होगा।

1. *रेपो दर (अल्पावधि ब्याज दर) कम करने का सवाल:* 1 सितंबर, 2013 को जब रघुराम राजन ने आरबीआई के गवर्नर का पदभार संभाला था, उस वक्त थोक एवं खुदरा मुद्रास्फीति की दरें काफी ऊंची थीं। खासकर, उपभोक्ता मूल्य सूचकांक दोहरे अंक में था। राजन ने मुद्रास्फीति को नियंत्रित करने का एजेंडा अपने हाथ में लिया और वे रेपो दर को 7.25 प्रतिशत से बढ़ाकर 8 प्रतिशत तक ले गये। वे इस बढ़े हुए दर को पूरे 2014 तक कायम रखे, जिससे मुद्रास्फीति काबू में आ गई, यानी इसकी दरों में करीब 50 प्रतिशत तक की कमी हुई। इसके बाद मोदी सरकार सत्ता में आई और इसने आरबीआई और इसके गवर्नर राजन पर रेपो दर कम करने का दबाव बनाना शुरू किया, ताकि वह अपने चहेते पूंजीपतियों को सस्ते दर पर ऋण मुहैया करा सकें। इस दबाव में राजन को रेपो दर में कुल मिलाकर 1.5 प्रतिशत की कमी (यानी 8 प्रतिशत से घटाकर 6.5 प्रतिशत) करनी पड़ी। लेकिन कई घरेलू एवं

वैश्विक परिस्थितियों के चलते मंहगाई घटती चली गई और यहां तक कि थोक मूल्य सूचकांक शून्य से नीचे और उपभोक्ता मूल्य सूचकांक 4 प्रतिशत के आसपास चला आया। 2016 में जब बजट सत्र के दौरान रेपो दर को घटाकर 5 या 5.5 प्रतिशत करने का दबाव बनाया गया, तो उन्होंने ऐसा करने से साफ मना कर दिया। उन्होंने कहा कि परिस्थितियां बदल रही हैं और अगर ऐसी स्थिति में रेपो दर घटाया जाएगा तो मुद्रास्फीति में वृद्धि होगी। उनका यह अनुमान सच निकला और मार्च 2016 में जो थोक मूल्य सूचकांक शून्य से 0.45 प्रतिशत नीचे था, वह अप्रैल एवं मई 2016 में बढ़कर क्रमशः 0. 34 प्रतिशत एवं 0.79 प्रतिशत हो गया। इसी तरह जून 2016 में उपभोक्ता मूल्य सूचकांक 5.77 प्रतिशत, यानी 22 माह के उच्चतम स्तर पर आ गया और खाद्य मुद्रास्फीति तो बढ़कर 7.79 प्रतिशत हो गई। लेकिन इसके बावजूद अभी भी रेपो दर घटाने हेतु दबाव बनाया जा रहा है और केंद्र सरकार आशा कर रही है कि आरबीआई 9 अगस्त 2016 की अपनी नीति समीक्षा बैठक में रेपो दर घटायेगी।

दरअसल, मुद्रास्फीति एवं अर्थव्यवस्था के बीच के अंतर्संबधों को समझने और दोनों को नियंत्रित करने के मसले को लेकर दुनिया के अर्थशास्त्रियों के बीच गहरे मतभेद रहे हैं। इसे जानने के लिए खासकर कीन्सवादी अर्थशास्त्रियों एवं शिकागो स्कूल के अर्थशास्त्रियों के विचारों पर रोशनी डालनी जरूरी है। कीन्सवाद के प्रवर्तक ब्रिटिश अर्थशास्त्री जॉन मेनार्ड कीन्स रहे हैं, जिनके सिद्धांतों ने 1929-30 की महामंदी से निबटने में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। कीन्स का मानना था कि मंदी के समय सरकार को अर्थव्यवस्था में ज्यादा से ज्यादा पैसा लगाना चाहिए और कर्ज लेकर भी सार्वजनिक खर्चों को बढ़ाना चाहिए, ताकि लोगों को ज्यादा से ज्यादा काम मिल सके और बाजार में प्रभावी मांग पैदा हो सके। उनका कहना था कि जब बाजार में मांग बढ़ेगी तो उत्पादन बढ़ेगा और पूरी अर्थव्यवस्था का चक्रक गति में विकास होगा और मंदी टूटेगी। इस पूरी प्रक्रिया को अग्रगति देने के लिए बड़ी मात्रा में पूंजी की आवश्यकता होगी और अपेक्षित पूंजी तभी उपलब्ध होगी जब सूद की दर कम होगी। अमेरिकी सरकार ने अपनी 2008 की आर्थिक मंदी से निपटने के लिए लगभग यही आर्थिक नीति अपनाई और फिलहाल भारत में मोदी सरकार उत्पादन बढ़ाने और घरेलू मांग पैदा करने के लिए ऐसा ही करना चाहती है।

शिकागो स्कूल के संस्थापकों में मिल्टन फ्रीडमैन का नाम आता है, जिन्होंने न केवल कीन्स के 'मांगपक्षीय अर्थशास्त्र' की आलोचना की, बल्कि 'महामंदी' के लिए अमेरिकी फेडरल रिजर्व की मौद्रिक नीति को सार्वजनिक रूप से जिम्मेवार ठहराया। उनका मानना था कि अर्थव्यवस्था में सरकार का हस्तक्षेप कम से कम होना चाहिए और फेडरल रिजर्व की भूमिका मुद्रा की पूर्ति तक सीमित कर देनी चाहिए। उनका यह भी कहना था कि पूर्ति को नियंत्रित कर अर्थव्यवस्था की विसंगतियों, जैसे मुद्रास्फीति या मंदी से निबटा जा सकता है। उनके अनुसार अगर मुद्रास्फीति को कम करना हो तो इसके लिए बाजार में मुद्रा की पूर्ति को घटाना होगा और मुद्रा की पूर्ति को घटाने के लिए बैंकों को सूद की दर को बढ़ाना होगा। अमेरिकी राष्ट्रपति रोनाल्ड रीगन ने अपने कार्यकाल के दौरान (1981-89) मिल्टन फ्रीडमैन के आर्थिक सिद्धांतों पर अमल किया। यहां तक कि उन्होंने 20 जनवरी, 1981 को अपने शपथ ग्रहण के दौरान दिये गए भाषण में साफ शब्दों में कहा-''वर्तमान संकट में, सरकार हमारी समस्याओं का समाधान नहीं है, बल्कि सरकार ही समस्या है।'' हमारे देश में रघुराम राजन मिल्टन फ्रीडमैन की सोच वाली एक ऐसी ही पूंजीवादी व्यवस्था चाहते हैं, जिसमें सरकार का कम से कम हस्तक्षेप हो और सरकार बाजार के संचालन में किसी प्रकार की समस्या न खड़ा करे।

2.*गैर निष्पादित परिसंपत्तियों (एनपीए) के बारे में:* फिलहाल भारतीय बैंकिंग क्षेत्र के लिए एनपीए एक गंभीर समस्या के रूप में सामने आई है। इस समस्या को लेकर न केवल आरबीआई एवं सुप्रीम कोर्ट, बल्कि अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने भी चिंता जाहिर की है। हाल में रघुराम राजन की पहलकदमी पर आरबीआई ने सभी बैंकों के बैलेंस शीट की सफाई के लिए 'एसेट क्वालिटी रिव्यू' का निदेशात्मक प्रावधान बनाया है। इस रिव्यू (समीक्षा) से पता चला कि सितंबर 2015 (जब आरबीआई ने रिव्यू का आदेश दिया) में बैंकों का कुल एनपीए 3,49,113 करोड़ रुपये था, जो मार्च 2016 में बढ़कर 5,90,772 करोड़ रुपये हो गया। इसमें सार्वजनिक बैंकों की हिस्सेदारी 5,30,000 करोड़ रुपये की थी। आरबीआई ने 2015-16 के वार्षिक रिपोर्ट में बताया है कि घरेलू एवं वैश्विक अर्थव्यवस्था की सुस्ती के कारण सितंबर 2015 में बैंकों का जो एनपीए 5.1 प्रतिशत था, वह सितंबर 2016 एवं मार्च 2017 में बढ़कर क्रमशः 5.4 प्रतिशत एवं 6.9 प्रतिशत हो जायेगा।

आरबीआई की एक रिपोर्ट के मुताबिक सरकारी बैंकों ने कुल मिला कर 8,55,551 करोड़ रुपये का कर्ज कॉरपोरेट घरानों एवं उद्योगपतियों को दिया है, जिन्हें लौटाया नहीं गया है। नियंत्रण एवं महालेखा परीक्षक की रिपोर्ट के अनुसार उक्त रकम का एक बड़ा हिस्सा विदेशी बैंकों में जमा किया गया है। ज्ञातव्य है कि इसमें से 7 लाख करोड़ रुपये तो रिलायंस, वेदांता, एस्सार, अदानी जैसे 10 बड़े उद्योगपतियों को दिया गया है। आर्थिक विशेषज्ञों का मानना है कि यह बैंकिंग क्षेत्र का अबतक का सबसे बड़ा घोटाला है। इसमें शामिल और उसके शिकार सार्वजनिक बैंकों को 2016 के वित्तीय साल में कुल 17,991 करोड़ रुपये का शुद्ध घाटा हुआ है। इसके परिणामस्वरूप इन बैंकों में नकदी संकट उत्पन्न हो गया है और कर्ज देने की क्षमता काफी घट गयी है।

मोदी राज में चहेते पूंजीपतियों की संपत्ति में काफी तेजी से वृद्धि हुई है... मोदी सरकार पूंजीवाद और पूंजीपतियों के इस 'विकृत' और 'अनैतिक' विकास की प्रक्रिया को तेज करना चाहती है, जबकि रघुराम राजन इस प्रक्रिया को नियंत्रित करना चाहते हैं। लेकिन इसमें किसी प्रकार की शक की गुंजाइश नहीं है कि दोनों पूंजीवाद की सेवा और रक्षा करना चाहते हैं और दोनों में अंतर केवल तरीके का है... दुनिया की पूंजीवादी सरकारें आमतौर पर अपने सालाना आर्थिक विकास दर को ऊंचा रखना चाहती हैं, ताकि अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर उसकी साख मजबूत हो। इसमें सफल न होने पर वे कई तरह की हेरा-फेरी कर अपने सकल घरेलू उत्पाद दर को बढ़ा-चढ़ा कर दिखाती हैं। रघुराम राजन का मानना है कि भारत सरकार भी फिलहाल ऐसा ही कर रही है।

आरबीआई की वित्तीय स्थायित्व रिपोर्ट के हालिया रिपोर्ट के मुताबिक सरकारी बैंकों ने कुल मिलाकर 8,55,551 करोड़ रुपये का कर्ज कॉरपोरेट घरानों एवं उद्योगपतियों को दिया है, जिन्हें लौटाया नहीं गया है। खुद नियंत्रण एवं महालेखा परीक्षक की रिपोर्ट में कहा गया है कि उक्त रकम का एक बड़ा हिस्सा विदेशी बैंकों में जमा किया गया है। ज्ञातव्य है कि इस रकम में से 7 लाख करोड़ रुपये तो रिलायंस, वेदांता, एस्सार, अदानी जैसे 10 बड़े उद्योगपतियों को दिया गया है। आर्थिक विशेषज्ञों का मानना है कि यह बैंकिंग क्षेत्र का अबतक का सबसे बड़ा घोटाला है, जिसकी किसी सक्षम एजेंसी द्वारा जांच की जानी चाहिए।

इस घोटाले में शामिल और उसके शिकार सार्वजनिक बैंकों को 2016 के वित्तीय साल में कुल 17,991 करोड़ रुपये का शुद्ध घाटा हुआ है। इसके परिणामस्वरूप इन बैंकों में नकदी संकट उत्पन्न हो गया है और कर्ज देने की क्षमता काफी घट गयी है। इस स्थिति से निजात पाने के लिए मोदी सरकार ने इन बैंकों में 4 सालों में कुल 70,000 करोड़ रुपये डालने की घोषणा की है। 2015-16 में 25,000 करोड़ रुपये देने का निर्णय लिया गया है। शेष रकम 2018 एवं 2019 में दी जायेगी। कई बैंकिंग विशेषज्ञों की राय है कि बैंकों को केवल इतने रकम से काम नहीं चलेगा और भारत सरकार को कम से कम 50,000 करोड़ रुपये की अतिरिक्त व्यवस्था करनी पड़ेगी।

सरकारी खजाने से इस तरह पूंजीपतियों के हित में धन मुहैया करना कितना जनविरोधी कदम है, इसे अच्छी तरह समझा जा सकता है। विदित है कि मोदी सरकार ने कुछ माह पहले 2013-15 के बीच पूंजीपतियों को दिये गये कुल 1.14 लाख करोड़ रुपये के कर्जों को 'खराब कर्जों' की श्रेणी मे डालकर माफ भी करा दिया है। इस माफी पर सुप्रीम कोर्ट के मुख्य न्यायाधीश ने स्वतः संज्ञान लिया और आरबीआई से पूछा-'क्या बैंकों द्वारा इस प्रकार से कर्जों की माफी एक बड़ी धोखाधड़ी का हिस्सा नहीं है?' एक ओर केंद्र सरकार पूंजीपतियों को अंधाधुंध कर्ज मुहैया कराने और समय-समय पर उनके 'खराब कर्जों' की माफी की प्रक्रिया को जारी रखना चाहती है, जबकि रघुराम राजन इस प्रकार के 'अनुत्पादक कर्जों को नियंत्रित करना' चाहते हैं। उन्होंने 'एसेट क्वालिटी रिव्यू' के साथ-साथ विफल परियोजनाओं से कर्जों की अदायगी हेतु बैंकों को एक खास ढांचा मुहैया कराने की कोशिश की है। इसके अलावा नकारात्मक एवं खराब कर्जों की पहचान करने के लिए 'ट्रैफिक सिग्नल' की तरह की व्यवस्था करने का भी प्रस्ताव किया है, जैसा कि कई अन्य विकसित पूंजीवादी देशों में लागू है। राजन की स्पष्ट मान्यता है कि हाल के वर्षों में बैंकों की साख वृद्धि दर में जो कमी हुई, उसकी मूल वजह सार्वजनिक बैंकों के ऊपर 'खराब कर्जों' का दबाव है, न कि सूद की ऊंची दर, जैसा कि सरकार एवं उनके समर्थक मानते हैं।

3. *क्रोनी कैपिटलिज्म के बारे में:* वैसे तो मार्क्सवादी सोच के अर्थशास्त्रियों के लिए क्रोनी कैपिटलिज्म (याराना पूंजीवाद) का अलग से कोई अस्तित्व नहीं है, लेकिन पूंजीवादी अर्थशास्त्रियों का मानना है कि यह पूंजीवाद का भ्रष्ट और विकृत रूप है। मार्क्सवादी अर्थशास्त्री मानते हैं कि 'याराना पूंजीवाद' पूंजीवादी व्यवस्था का ही दूसरा नाम है, जिसका विकास बहुत ही स्वाभाविक गति से होता है। पूंजीवाद के अंतर्गत बड़े पूंजीपति और उनका राष्ट्र-राज्य एक दूसरे पर आश्रित और पारस्परिक रूप से अंतर्गुंथित होते हैं। पूंजीवादी राज्य अंतर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता में टिके रहने के लिए घरेलू पूंजीपतियों एवं उनकी कंपनियों पर भरोसा करते हैं और घरेलू पूंजीपति एवं उनकी कंपनियां मुनाफे की दरों को बढ़ाने, सस्ते दरों पर बैंकों से कर्ज दिलाने, अपने हितों के अनुकूल श्रम कानूनों को बदलवाने, अपने ऊपर लगने वाले करों में छूट पाने और विदेशी प्रतियोगियों से रक्षा करने के लिए राज्य व्यवस्था पर आश्रित होते हैं।

पूंजीवादी अर्थशास्त्री पूंजीवाद के संकट को छुपाने के लिए 'याराना पूंजीवाद' का मुहावरा गढ़ते हैं और तर्क देते हैं कि अगर पूंजीवाद राज्य की शक्तियों से प्रभावित हुए बगैर 'नैतिक और 'जवाबदेह' रूप से काम करे, तो वह संकट से बच सकता है। वे इस बात को जान-बूझ कर छुपाते हैं कि मुक्त बाजार प्रतियोगिता एकाधिकार को जन्म देती है और एकाधिकारी पूंजीपतियों का राज्य व्यवस्था से सीधा एकीकरण होता है।

रघुराम राजन करीब डेढ़ दशक से 'क्रोनी कैपिटलिज्म' की अवधारणा पर बोलते एवं लिखते रहे हैं। शिकागो स्कूल के अर्थशास्त्रियों के साथ बूथ स्कूल ऑफ बिजनेस में काम करते हुए उन्होंने अपने सहयोगी लुईंगी जिंगल्स के साथ मिलकर 2003 में एक किताब लिखी थी, जिसका नाम है-'सेविंग कैपिटलिज्म फ्रॉम दि कैपिटलिस्ट'। इस पुस्तक में उन्होंने साफ शब्दों में लिखा था-'पूंजीवाद, या ज्यादा सही मायने में मुक्त बाजार व्यवस्था, उत्पादन एवं वितरण को संगठित करने का मानव प्राणी द्वारा प्राप्त सर्वाधिक प्रभावकारी

तरीका है...ताकतवर एवं प्रतियोगी वित्तीय बाजार, अवसरों को खोलने और गरीबी से मुकाबला करने के असाधारण प्रभावकारी उपकरण हैं। लहराते प्रवर्तनीय वित्तीय बाजारों के बिना अर्थव्यवस्थाओं का पतन हो जायेगा।' मतलब यह कि राजन मुक्त बाजार की अर्थव्यवस्था, यानी पूंजीवाद को बिना सरकारी हस्तक्षेप के स्वच्छंदगति से चलने देने के पक्षधर हैं, ताकि पूंजीवाद को बचाया जा सके।

शायद भारत में बढ़ते 'क्रोनी कैपिटलिज्म' के प्रति सावधान करने वाले राजन पहले अर्थशास्त्री थे, जिन्होंने 2008 में बाम्बे चैम्बर ऑफ कॉमर्स द्वारा आयोजित एक कार्यक्रम में कहा कि सरकारी मशीनरियों से सांठ-गांठ कर भारत में अरबपतियों की संख्या तेजी से बढ़ रही है। उनके अनुसार उस साल तक भारतीय अरबपतियों की संख्या 55 हो गई थी। नवंबर 2014 में भी उन्होंने आरबीआई के गवर्नर के रूप में कहा-'विकासशील देशों के विकास के मार्ग में सबसे बड़े खतरों में से एक है मध्य आय फंदा, जहां क्रोनी कैपिटलिज्म अल्प जनशासित राज्य बनाता है और विकास को धीमा करता है। अगर चुनावों के दौरान की बहस को कोई सूचक माना जाये, तो आज के भारत की आम जनता की यही वास्तविक चिंता है।' (टाइम्स ऑफ इंडिया, 12 अगस्त, 2014)

सचमुच हाल के वर्षों में हमारे देश में गरीबी-अमीरी की खाई काफी गहरी और चौड़ी हुई है। खासकर, मोदी राज में चहेते पूंजीपतियों की संपत्ति में काफी तेजी से वृद्धि हुई है। हाल में जारी न्यू वर्ल्ड वैल्थ की 'इंडिया 2016' की रिपोर्ट के अनुसार 'उच्च निबल मूल्य वाले व्यक्तियों' (एचएनडब्ल्यूआई) की संख्या 2015 में बढ़कर 2,36,000 हो गई है, जो 2007 में 1,52,000 थी। 2007 और 2015 की अवधि के बीच उनकी संपत्ति मे 67 प्रतिशत की बढ़ोत्तरी हुई है।

मोदी सरकार पूंजीवाद और पूंजीपतियों के इस 'विकृत' और 'अनैतिक' विकास की प्रक्रिया को तेज करना चाहती है, जबकि रघुराम राजन इस प्रक्रिया को नियंत्रित करना चाहते हैं। लेकिन इसमें किसी प्रकार की शक की गुंजाइश नहीं है कि दोनों पूंजीवाद की सेवा और रक्षा करना चाहते हैं और दोनों में अंतर केवल तरीके का है। ज्ञातव्य है कि सीपीआई-सीपीएम जैसे वामपंथी दल और विभिन्न किस्म के समाजवादी एवं अरविंद केजरीवाल जैसे राजनीतिज्ञ, जो क्रोनी कैपिटलिज्म (याराना पूंजीवाद) का विरोध करते हैं, के चरित्र भी ऐसे ही हैं।

4. *विकास दर के बारे में:* दुनिया की पूंजीवादी सरकारें आमतौर पर अपने सालाना आर्थिक विकास दर को ऊंचा रखना चाहती हैं, ताकि अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर उसकी साख मजबूत हो। अगर वे घरेलू और बाहरी कारणों से इसमें सफल नहीं होती हैं तो कई तरह की हेरा-फेरी कर अपने सकल घरेलू उत्पाद दर को बढ़ा-चढ़ा कर दिखाती हैं। रघुराम राजन का मानना है कि भारत सरकार भी फिलहाल ऐसा ही कर रही है।

मोदी सरकार ने वर्ष 2015-16 में सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) का विकास दर 7.6 प्रतिशत बताया, जबकि पिछले साल वह 7.2 प्रतिशत था। सरकार द्वारा जारी इस आंकड़े पर राजन के अलावा कई अन्य लोगों द्वारा भी आपत्ति उठाई गई। इनमें मार्गन स्टेनली के मुख्य वैश्विक रणनीतिकार रुचिर शर्मा, भाजपा के नेता और पूर्व वित्त मंत्री यशवंत सिन्हा तथा कांग्रेस के चर्चित नेता दिग्विजय सिंह शामिल हैं। यहां तक कि मुख्य सांख्यिकीविद टीसीए अनंत, जो विकास दर के आंकड़े तैयार करते हैं, ने भी विकास दर की गणना पद्धति पर कुछ सवाल खड़े किये हैं। इतना ही नहीं, मोदी के प्रिय 'दोस्त' बराक ओबामा की सरकार के विदेश विभाग ने भी कहा है कि 2015-16 में भारत ने जो 7.6 प्रतिशत का विकास दर दर्शाया है, वह काफी बढ़ाया-चढ़ाया लगता है।

आइये, मोदी सरकार ने जीडीपी दर के आकलन में जो फेर-बदल किया है, उस पर गौर करें। पहले जीडीपी की गणना 2004-05 के मूल्यों के आधार पर की जाती थी, लेकिन इस आधार वर्ष को बदल कर 2011-12 कर दिया गया है। पहले जीडीपी की गणना उत्पादन की कीमत या लागत के आधार पर की जाती थी, अब कुल खर्चों के आधार पर की जाती है। अगर अर्थशास्त्र की भाषा का प्रयोग करें तो पहले जीडीपी की गणना में पूर्ति पक्ष (सप्लाई साइड) को आधार बनाया जाता था और अब मांग पक्ष (डिमांड साइड) को बनाया जाता है। ऐतिहासिक रूप से, हमारे देश में इस गणना में पूर्ति पक्ष को आधार बनाना ज्यादा विश्वसनीय रहा है और मांग पक्ष के आधार पर गणना काफी कठिन है। मांग पक्ष, यानी कुल खर्चों में कई संवर्ग शामिल हैं, जैसे निजी उपभोग के खर्चे, सरकारी उपभोग के खर्चे, समग्र स्थिर पूंजी निर्माण, माल भंडारों में परिवर्तन, शुद्ध निर्यात आदि। इनमें से सरकारी उपभोग के खर्चे, समग्र स्थिर

भारत सरकार के लिए वित्तीय सुधारों को सफल बनाना काफी जरूरी है, ताकि वह अपनी बैंकिंग व्यवस्था को वैश्विक पूंजी की सेवा करने लायक बना सके। इन सुधारों के दायरे में वित्तीय व्यवस्था का सुदृढ़ीकरण का सवाल काफी महत्व रखता है। लेकिन मोदी सरकार इस पर ध्यान देने के बजाय अपनी तमाम महत्वाकांक्षी योजनाओं/अभियानों को पूरा करने के लिए विदेशी पूंजी और वित्तीय घाटे की व्यवस्था पर भरोसा कर रही है। ज्यादा से ज्यादा विदेशी पूंजी जुटाने के लिए विदेशी निवेश के नियमों एवं उसकी सीमाओं को काफी उदार बनाया जा रहा है और अधिकांश क्षेत्रों में 74 से लेकर 100 प्रतिशत तक एफडीआई (प्रत्यक्ष विदेशी निवेश) की अनुमति दे दी गई है।

पूंजी निर्माण और शुद्ध निर्यातों के बारे में तो कुछ जानकारियां मिल जाती हैं, लेकिन अन्य संवर्गों के बारे में तो अटकलबाजियां ही की जा सकती हैं। खासकर, जब इन खर्चों का तिमाही आकलन करना हो तो यह और भी जटिल काम हो जाता है। सच्चाई तो यह है कि भारत सरकार का संपूर्ण सांख्यिकी विभाग इस महती काम के लिए कहीं से भी सक्षम नहीं है। ऐसी स्थिति में गड़बड़ियों का होना बिल्कुल स्वाभाविक है और कोई भी सरकार इस स्थिति का फायदा उठाकर जीडीपी वृद्धि की दर को अपनी चाहत के मुताबिक ऊंचा दिखा सकती है। वर्तमान मोदी सरकार आज यही कर रही है, जिसका राजन विरोध कर रहे हैं।

5. *वित्तीय सुदृढ़ीकरण का सवाल:* भारत सरकार के लिए वित्तीय सुधारों को सफल बनाना काफी जरूरी है, ताकि वह अपनी बैंकिंग व्यवस्था को वैश्विक पूंजी की सेवा करने लायक बना सके। इन सुधारों के दायरे में वित्तीय व्यवस्था का सुदृढ़ीकरण का सवाल काफी महत्व रखता है। लेकिन मोदी सरकार इस पर ध्यान देने के बजाय अपनी तमाम महत्वाकांक्षी योजनाओं/अभियानों को पूरा करने के लिए विदेशी पूंजी और वित्तीय घाटे की व्यवस्था पर भरोसा कर रही है। ज्यादा से ज्यादा विदेशी पूंजी जुटाने के लिए विदेशी निवेश के नियमों एवं उसकी सीमाओं को काफी उदार बनाया जा रहा है और अधिकांश क्षेत्रों में 74 से लेकर 100 प्रतिशत तक एफडीआई (प्रत्यक्ष विदेशी निवेश) की अनुमति दे दी गई है। वित्तीय घाटे की व्यवस्था के तहत राजस्व घाटा का मुद्रीकरण किया जा रहा है। 2003 के पहले यह मुद्रीकरण आरबीआई द्वारा मुख्यतः नोट छापकर किया जाता था, लेकिन इसके बाद से यह पिछले दरवाजे से विदेशी मुद्राओं के जरिये किया जा रहा है।

रघुराम राजन इस स्थिति को पलटना चाहते हैं ताकि भारत एक आत्मनिर्भर और विकसित पूंजीवादी व्यवस्था बन सके। पिछले 10 मई, 2016 को उन्होंने लंदन स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स में अपना व्याख्यान देते हुए कहा कि 'सार्वजनिक मुद्रा संचारण की आसान प्रत्यक्ष मौद्रिक नीति कोई समाधान का अंग बनने के बजाय तेजी से समस्या के रूप में सामने आ रही है।' उन्होंने आगे कहा कि मुद्रा का 'हेलिकॉप्टर ड्रॉप' केंद्रीय बैंक को भारी मात्रा में मुद्रा छापने के लिए बाध्य करता है ताकि उन्हें सीधे जनता में बांटा जाये या सार्वजनिक परियोजनाओं में लगाया जा सके।

मुद्रा संचारण की इसी गलत नीति को दुरुस्त करने हेतु राजन ने वित्तीय सुदृढ़ीकरण की नीति पर अमल करना शुरू किया। आरबीआई के गवर्नर के रूप में उन्होंने कई कदम उठाये, जैसे रूपया-डॉलर विनिमय दर को स्थिर करना, बैंकों की बैलेंस शीट को ठीक करने के लिए 'एसेट क्वालिटी रिव्यू' कराना, मौद्रिक नीति कमिटी के गठन का निर्णय लेना, विदेशी मुद्रा भण्डार को बढ़ाने के लिए एनआरआई को भारतीय बैंकों में मुद्रा जमा करने हेतु प्रेरित करना, नये युनिवर्सल एवं निच बैंकों की लायसेंसिंग प्रथा को पारदर्शी बनाना, पेमेन्ट बैंक की शुरुआत करना आदि।

उपरोक्त मामलों के अलावा मोदी सरकार के 'मेक इन इंडिया अभियान' और इस सरकार के कार्यकाल में फैलती असहिष्णुता जैसे मसलों पर भी रघुराम राजन के मतभेद सामने आये हैं। उन्होंने साफ तौर पर कहा है कि चीन की नकल पर आधारित 'मेक इन इंडिया' के अभियान की सफलता सुनिश्चित नहीं की जा सकती। आज विश्व की परिस्थितियां बदल गई हैं और वैश्विक सुस्ती/मंदी के दौर में भारत को चीन की तरह एक वैश्विक मैन्युफैक्चरिंग हब में तब्दील करना कठिन है। उन्होंने आगे कहा कि भारत सरकार को 'मेक इन इंडिया' के बदले 'मेक फॉर इंडियंस' को ध्यान में रखकर अपनी विनिर्माण नीति को विकसित करनी चाहिए। समग्रता में उनका कहना है कि जब तक घरेलू बाजार को अच्छी तरह विकसित नहीं कर लिया जाता, तब तक 'मेक इन इंडिया' की सफलता संदिग्धहै।

उपरोक्त विश्लेषण में हमने देखा कि किस तरह मोदी सरकार एवं आरबीआई गवर्नर रघुराम राजन के बीच कोई व्यवस्थागत मतभेद नहीं है। दोनों भारत में विकसित होती पूंजीवादी व्यवस्था के पोषक हैं और दोनों के बीच के मतभेद केवल इसके निर्माण की कतिपय नीतियों को लेकर हैं। लेकिन विडंबना यह है कि हमारे देश की कुछ संसदीय वामपंथी पार्टियां राजन की नीतियों का समर्थन कर रही हैं। वस्तुस्थिति यह है कि भारत की मेहनतकश जनता एवं सही जनवादी-क्रांतिकारी ताकतों के सामने दोनों में से किसी एक को चुनने का नहीं है, बल्कि इन दोनों और देश के पूंजीवादी विकास मॉडल के खिलाफ एक जनपक्षीय विकास मॉडल बनाने के लिए उपयुक्त माहौल बनाने और आगे चल कर उस पर अमल करने का है। ❐

ज्ञान, शिक्षा तथा वर्चस्व

ईश मिश्र

''हर ऐतिहासिक युग में शासक वर्ग के विचार ही शासक विचार होते हैं, यानी समाज की भौतिक शक्तियों पर जिस वर्ग का शासन होता है वही बौद्धिक शक्तियों पर भी शासन करता है। भौतिक उत्पादन के साधन जिसके नियंत्रण में होते हैं, बौद्धिक उत्पादन के साधनों पर भी उसी का नियंत्रण रहता है, जिसके चलते सामान्यतः बौद्धिक उत्पादन के साधन से वंचितों के विचार इन्हीं विचारों के अधीन रहते हैं।'' (कार्ल मार्क्स, जर्मन विचारधारा)

कार्ल मार्क्स का उपरोक्त कथन आज नवउदारवादी संदर्भ में कम-से-कम उतना ही प्रासंगिक है जितना 1845 में इसके लिखे जाने के वक्त। शासक वर्ग का विचार ही युग का विचार या युग चेतना होता है। युगचेतना यानी खास देश-काल की विचारधारा मिथ्या चेतना होती है क्योंकि यह एक खास संरचना को शाश्वत, सार्वभौमिक तथा अंतिम सत्य के रूप में प्रतिस्थापित करने का प्रयास करती है।आज अस्तित्व की चुनौती से जूझ रहा ब्राह्मणवाद हजार साल से अधिक समय तक भारतीय उपमहाद्वीप के ज्यादातर भूखंडों में युग चेतना बना रहा जिसे गुरुकुलों की शिक्षा द्वारा परिभाषित ज्ञान पालता पोषता रहा। शिक्षा संस्थान बौद्धिक उत्पादन के सबसे महत्वपूर्ण कारखाने हैं। 1995 में विश्व बैंक ने शिक्षा को एक व्यापारिक सेवा के रूप में गैट्स (जनरल ऐग्रीमेंट ऑन ट्रेड ऐंड सर्विसेज) में शामिल कर लिया है। वैसे मनमोहन सरकार भी इस दस्तावेज पर दस्तखत करने को सिद्धांततः सहमत थी लेकिन किया मोदी सरकार ने। दोनों विश्व बैंक की मातहती में एक-दूसरे के प्रतिद्वंद्वी हैं। शासक वर्ग समाज के मुख्य अंतर्विरोध की धार को कुंद करने के लिए राज्य के वैचारिक उपकरणों से अपने आंतरिक अंतर्विरोधों को समाज के मुख्य अंतर्विरोध के रूप में प्रचारित करता है। उच्च शिक्षा संस्थानों पर तमाम तरीकों से जारी हमला गैट्स को लागू कर शिक्षा को पूरी तरह कॉरपोरेटी भूमंडलीय पूंजी के हवाले करने की भूमिका है। गैट्स के विभिन्न प्रावधानों की चर्चा की गुंजाइश (स्कोप) यहां नहीं है लेकिन खेल के सम मैदान (लेबेल प्लेइंग फील्ड) की संक्षिप्त चर्चा अप्रासंगिक नहीं होगी। यानी अगर सरकार दिल्ली विश्वविद्यालय को अनुदान देती है तो लब्ली विश्वविद्यालय को भी दे नहीं तो दिल्ली विश्वविद्यालय का भी अनुदान बंद करे। जब तक सार्वजनिक वित्त पोषित संस्थान रहेंगे तो निजी खिलाड़ियों के 'खुले' खेल में दिक्कत होगी। इनकी दुकानें तब तक उतनी सुचारु रूप से नहीं चल पाएंगी जब तक सार्वजनिक वित्तपोषित संस्थाएं खत्म नहीं हो जातीं। सरकार और आरएसएसी ब्राह्मणवाद इसी प्रयास में लगे हैं। दिल्ली विश्वविद्यालय तथा अन्य विश्वविद्यालयों के शिक्षक मानव संसाधन मंत्रालय और रीढ़विहीन विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के तुगलकी फरमानों के खिलाफ महीनों से आंदोलित हैं। भविष्य बताएगा कि शिक्षक-छात्रों का प्रतिरोध सरकार की शिक्षा-विरोधी मुहिम को रोक पाएगा कि नहीं।

चुनावी ध्रुवीकरण के गुजरात प्रयोग के महानायक नरेंद्र मोदी के केंद्र की सत्ता पर काबिज होते ही आरएसएस ने अपने संसदीय और 'असंसदीय' घटकों के माध्यम से उच्च शिक्षा तथा उच्च शिक्षा संस्थानों पर हमला बोल दिया। भारत को माता मानने वाले को ही शिक्षित मानने वाली, मानव संसाधन मंत्री, स्मृति इरानी ने शिक्षा में आमूल परिवर्तन के संकेत दिए हैं। हिंदुत्व के प्रथम परिभाषक वीडी सावरकर मातृभूमि की नहीं पितृभूमि की बात करते हैं। भारत को पिता मानने वाले सावरकर को ये शिक्षित मानती हैं कि नहीं, वही जानें। सरकार की मौजूदा नीतियां शिक्षा के भगवाकरण की द्योतक हैं जैसा कि राजस्थान के शिक्षामंत्री ने साफ साफ कहा है कि उनकी सरकार शिक्षा के भगवाकरण के लिए कटिबद्ध है। आगरा में विश्व हिंदू परिषद के मंच से मुसलमानों के सफाया की गुहार लगाने के लिए चर्चा में आए केंद्रीय मानव संसाधन राज्य मंत्री ने साफ साफ कह दिया, ''हिंदुस्तान में नहीं तो क्या पाकिस्तान में भगवाकरण होगा?'' यहां मकसद भगवाकरण की अंतर्वस्तु की व्याख्या नहीं है, वह एक अगल चर्चा का विषय है। सरकार की नई शिक्षा नीति तथा इस सरकार का शिक्षा संस्थानों में स्थापित जनतांत्रिक मूल्यों और अभिव्यक्ति की आजादी पर हमला भी इस का मकसद नहीं है, वह भी एक अलग चर्चा का विषय है। इस लेख का विचार इस जिज्ञासा से उभरा कि क्यों सभी ऐतिहासिक युगों में शासक वर्ग और उनके 'जैविक' बुद्धिजीवी ज्ञान को शिक्षा के माध्यम से एक खास ढांचे में परिभाषित करते हैं और शिक्षा पर एकाधिकार कायम करते हैं? क्या शिक्षा और ज्ञान मे कोई समानुपाती रिश्ता है? इन्ही सवालों के जवाब की तलाश में इसमें शिक्षा तथा शासक वर्ग के वैचारिक वर्चस्व के अंतर्संबंधों पर ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में एक चर्चा का प्रयास किया गया है।

लगता है ज्ञान तथा शैक्षणिक डिग्री में समानुपातिक संबंधों की मान्यता के चलते भारत के प्रधानमंत्री तथा मानव संसाधन मंत्री की डिग्रियां विवाद के घेरे में हैं। आम आदमी पार्टी के कुछ नेताओं ने दिल्ली विश्वविद्यालय से मोदीजी और स्मृति इरानी जी के पंजीकरण तथा परीक्षा संबंधित दस्तावेज मांगे हैं। अखबारों की खबरों से पता चला कि दिल्ली विश्वविद्यालय को स्मृति इरानी के दस्तावेज मिल ही नहीं रहे। अरुण जेटली ने जो डिग्री और मार्क्सशीट मीडिया को दिखाया उनके नामों और रोल नंबरों में विसंगतियां हैं। गुजरात विश्वविद्यालय के कुलपति ने मीडिया में मोदी जी की ''संपूर्ण राजनीतिशास्त्र (एंटायर पोलिटिकल साइंस)'' में एमए की डिग्री पेश की। यह अलग बात है कि दुनिया के किसी

भी विश्वविद्यालय में इस नाम का विषय नहीं दर्ज है। इस विवाद पर मोदी जी का मन मौन है। यहां मकसद इनकी शैक्षणिक योग्यता पर चर्चा नहीं है, न ही इस बात पर कि झूठा हलफनामा भारतीय दंड संहिता की किस धारा में आता है। अगर उन्होंने सचमुच हलफनामे में सच बोला है तो अपनी डिग्रियां व मार्क्सशीट सार्वजनिक क्यों नहीं करते? यह भी इस लेख की चर्चा का विषय नहीं है। मोदी जी के राजनैतिक कौशल को कोई चुनौती नहीं दे सकता क्योंकि गोधरा के प्रायोजन से शुरू कर दिल्ली के तख्त की राजनैतिक यात्रा का वृत्तांत उसकी काट के रूप में मौजूद है। इस विवाद के जिक्र का यहां मकसद महज इस बात की ओर इंगित करना है कि इन्हें अपने ज्ञान की वैधता के लिए शैक्षणिक योग्यता का तथाकथित फर्जी बयान क्यों जरूरी लगा? क्या शिक्षा और ''ज्ञान'' के अंत:संबध इतने गहन हैं? क्यों यह सरकार एक-एक कर उच्च-शिक्षा परिसरों को साम-दाम-भेद-दंड से खास रंग में रंगना चाहती है? क्यों सरकार तथा आरएसएस के सभी भोंपू नारों से देशभक्ति और देशद्रोह परिभाषित करना चाहते है? इतिहास के इस अंधे मोड़ पर जब कॉरपोरेटी फासीवाद आक्रामक रूप से मुखर हो, इन सवालों पर विमर्श जरूरी हो गया है।

फेसबुक पर एक अमेरिकी ने एक पोस्टर शेयर किया था, ''ट्रंप को रोकना समाधान नहीं है; समाधान उस शिक्षा प्रणाली को खारिज करना है, जो इतने ट्रंप समर्थक पैदा करती है।'' देश में मोदी-भक्तों में उच्च-शिक्षितों की संख्या देखते हुए यही बात हमारी शिक्षा पद्धति पर भी लागू होती है। 2014 के चुनाव में दिल्ली विश्वविद्यालय के शिक्षकों का बहुमत, विकास पुरुष के गुणगान कर रहा था। संस्थागत परिभाषा में प्रोफेसर सर्वोच्च ज्ञानी माना जाता है। जिससे भी पूछता था कि भाई, अपने आराध्य का एक गुण बता दीजिए जिसके चलते वे उन्हें देश का उद्धारक, दिव्य पुरुष लगते हैं? उनका वही जवाब होता था जो वास्तविक तथा फेसबुक जैसी आभासी दुनिया में बजरंगी लंपटों का। ''16 मई को बताएंगे।'' मुझे तरस आता था सर्वोच्च शिक्षित इन प्रोफेसरों पर कि सामाजिक विश्लेषण में एक प्रोफेसर तथा बजरंगी लंपट में कोई फर्क नहीं है क्या? इस तरह का पूर्वाग्रह-दुराग्रह तथा कुतर्क ज्ञान हो सकता है क्या? यदि नहीं तो क्या शिक्षा और ज्ञान में कोई समानुपातिक संबंध है?

ज्ञान तथा शिक्षा के अंत:संबंधों के इतिहास पर दृष्टिपात के पहले आइए जरा कुछ सर्वोच्च शिक्षित समूहों पर एक उड़ती नजर डालते हैं। अंधविश्वासों, धार्मिक पूर्वाग्रह-दुराग्रहों तथा सामाजिक कुरीतियों के खिलाफ मुहिम चलाने वाले दाभोलकर की हत्या का मुख्य आरोपी तवाड़े विशेषज्ञ डाक्टर है, जहालत से नफरत तक का मसीहा विहिप का नेता तोगड़िया भी डाक्टर है। कुछ साल पहले देहरादून के आईआईटी से उच्च शिक्षा प्राप्त एक व्यक्ति द्वारा अपनी पत्नी की हत्या के बाद लाश को बोटी-बोटी करके रेफ्रीजरेटर में रख कर 'वैज्ञानिक तरीके' से किस्तों में ठिकाने लगाने की खबर छपी थी। इसी तरह की खबर दिल्ली में मुनीरका में रहने वाले एक अन्य आईआईटियन के बारे में छपी थी। सर्वविदित है कि गुजरात के दर्जनों आईपीएस/आईएएस अपनी संवैधानिक भूमिका निभाने की बजाय अमानवीय जनसंहार की देख-रेख और मोदी सरकार के इशारों पर, मंत्रियों के निजी चाकरों की तरह मासूमों को फर्जी मुठभेड़ों में मार रहे थे। ये उदाहरण इस लिए दिया जा रहे हैं कि इन संस्थानों तथा सेवाओं में, माना जाता है कि देश की प्रतिभा की मलाई जाती है। जिस समाज की उच्च शिक्षित मलाई इतनी अमानवीय हो तो तलछट कैसा होगा, आसानी से समझा जा सकता है। यदि ज्ञान का मतलब मानवीय परिप्रेक्ष्य में समाज की वैज्ञानिक समझ और उसकी भलाई से है तो उच्च शिक्षित अमानवीयता के अथाह सागर के चंद प्यालों की ये मिसालें शिक्षा और ज्ञान के बीच समानुपातिक संबंध के सिद्धांत को खारिज करती हैं।

ज्ञान का इतिहास शिक्षा के इतिहास से पुराना है। आदिम कुनबों तथा कबीलों में ज्ञानी माने जाने वाले ही कबीले का मुखिया, पुजारी या सेनापति होते थे। मानव जाति ने भाषा, आग, धातुविज्ञान, पशुपालन, विनिमय/विपणन तथा आत्मघाती युद्ध का ज्ञान किसी भी शिक्षा व्यवस्था के पहले ही हासिल कर लिया था। प्रकृति से अनवरत संवाद से अर्जित अनुभवों तथा प्रकृति के साथ प्रयोगों और उनपर चिंतन-मनन से मनुष्य अनवरत रूप से प्रकृति के तमाम उपहारों और प्रक्रियाओं के बारे में ज्ञानार्जन करता रहा है तथा इसके माध्यम से श्रम के साधनों का विकास। इसीलिए कोई अंतिम ज्ञान नहीं होता बल्कि ज्ञान एक अनवरत प्रक्रिया है। हर पीढ़ी पिछली पीढ़ियों की उपलब्धियों को समेकित कर उसे आगे बढ़ाती है। तकनीकी प्रगति के साथ उत्पादक शक्तियों का विकास आदिम सामुदायिक उत्पादन प्रणाली के बस की नहीं रही। भरण-पोषण से अतिरिक्त उत्पादन की अर्थव्यस्था ने निजी संपत्ति को जन्म दिया। कबीलाई जिंदगी के बिखराव के दौर में, सामूहिक संपत्ति के बंटवारे में ज्ञानियों की चतुराई से सामाजिक असमान वर्ग-विभाजन के बाद वर्चस्वशाली वर्गों ने वर्चस्व की वैधता के लिए ज्ञान को अपने वर्गहित में परिभाषित किया। ज्ञान की इस सीमित परिभाषा को ही अंतिम ज्ञान के रूप में समाज पर थोपने के मकसद से ज्ञान को शिक्षाजन्य बना देशकाल के अनुकूल शिक्षा प्रणालियों की शुरुआत की। मार्क्स के उपरोक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि पूंजीवाद महज उपभोक्ता माल का ही नहीं, विचारों का भी उत्पादन करता है। शासक वर्ग के विचारक, शासक विचारों को राज्य के वैचारिक उपकरणों से अंतिम सत्य बता युग के विचार के रूप में प्रतिष्ठित कर युग चेतना का निर्माण करते हैं। ये विचार प्रकारांतर से यथास्थिति को यथासंभव सर्वोचित तथा सर्वाधिक न्यायपूर्ण व्यवस्था के रूप में स्थापित करते हैं।

इस तरह की मिथ्या चेतना का निर्माण जरूरी नहीं कि छल-कपट के भाव से किया जाता हो। प्राय: ये बुद्धिजीवी खुद को धोखा देते हैं, क्योंकि वे खुद मिथ्या को सच मानने लगते हैं। तेजस विमान की सफलता के लिए सत्यनारायण की कथा कहने वाला वह पुजारी जरूरी नहीं है कि जानबूझ कर छल कर रहा है बल्कि ज्यादा संभावना है कि वह खुद को धोखे में रखता है। उसे खुद भी विश्वास है कि इस वैज्ञानिक उपक्रम को अंधविश्वासी कर्मकांडों से ही सफल बनाया जा सकता है। पूंजीवादी बुद्धिजीवी तमाम तर्क-कुतर्कों से बताते हैं कि पूंजीवाद

ही सर्वोत्तम व्यवस्था है जिसमें हर किसी को योग्यतानुसार पुरस्कृत या दंडित किया जाता है। समाजवाद वगैरह के विकल्प अव्यावहारिक हैं और असफल साबित हो चुके हैं। जाने-माने मार्क्सवादी विचारक ऐंतोनियो ग्राम्सी ने अपने वर्चस्व के सिद्धांत में खूबसूरती से दर्शाया है कि किस तरह युगचेतना के प्रभाव में, शोषित सहमति से शोषित होता है। शासक वर्गों के हाथ में संस्थागत शिक्षा युगचेतना के निर्माण का एक प्रमुख उपकरण है। यह ज्ञान को परिभाषित और सीमित करती है। प्राचीन कालीन यूनानी चिंतक अरस्तू शिक्षा की भूमिका नागरिकों में खास ढंग से, सोचने की आदत डालना तय करता है। इसीलिए सभी सरकारें शिक्षा के अनुकूलन का प्रयास करती हैं। आधुनिक शिक्षा में शैक्षणिक डिग्रियों को आम तौर पर किसी के ज्ञान का मान दंड मान लिया जाता है। उच्च शिक्षित भक्तों की भीड़ देख, लगता है कि पढ़े-लिखे अज्ञानियों का प्रतिशत काफी है।

कृषि तथा शिल्प के विकास के साथ हमारे अर्धखानाबदोश ऋगवैदिक पूर्वजों की पशुपालन की अर्थव्यवस्था कृषि आधारित हो गयी और वे स्थाई गांवों में रहने लगे। कुछ चतुर-चालाक लोगों ने श्रम विभाजन के नाम पर समाज को श्रमजीवी और परजीवी वर्गों (वर्णों) में बांटकर पवित्रता-अपवित्रता के सिद्धांत गढ़कर जन्मजात बना दिया। वर्णाश्रम व्यवस्था के औचित्य तथा वैधता के लिए ग्रंथ लिखे गये जिन्हें ज्ञान का स्रोत मान लिया गया। अमानवीय वर्गविभाजन को दैविक रूप देकर शासक वर्गों (वर्णों) के हित में युगचेतना के निर्माण के लिए शिक्षा की गुरुकुल प्रणाली शुरू हुई। जन्मजात श्रेणीबद्ध वर्ग विभाजन के औचित्य के लिए तमाम दैवीय मिथ गढ़े गये। इहलोक-उहलोक की दैविक जुमलेबाजी के साथ ब्रह्मा, विष्णु, महेश की त्रिमूर्ति के रूप में सर्जक, रक्षक तथा संहारक देवताओं की गल्प कथाएं गढ़ी गयीं। इन गल्प कथाओं को सुस्थापित करने के भूलोक तथा देवलोक के बिचौलिए नारद नामक कल्पित चरित्र को सूत्रधार बनाकर पुराणों की रचना हुई। वेद-पुराण ही गुरुकुलों के पाठ्यक्रम में प्रमुख थे। इन मिथकीय ग्रंथों के जरिए वेद-हल का द्वंद्व खड़ा किया गया। ईश्वर ने कुछ लोगों को हल चलाने के लिए बनाया है, कुछ को वेद पढ़ने के लिए और एक दूसरे के क्षेत्र में अतिक्रमण दैविक वर्जना थी। मनुस्मृति में साफ लिखा है कि स्त्री या शूद्र गलती से भी वेदमंत्र सुन लें तो उनके कानों में पिघलता सीसा उड़ेल देना चाहिए। यानी ज्ञान वही है जो शिक्षा बताए और शिक्षा में सवर्ण पुरुषों का 100 प्रतिशत आरक्षण।

समूचे प्राचीन तथा मध्ययुगीन इतिहास में, समतामूलक बौद्ध समुदायों को छोड़ दें तो शिक्षा तथा ज्ञान की दावेदारी शासित वर्गों के लिए वर्जना ही रही है। मुगलकाल के पहले शिक्षा का माध्यम संस्कृत थी। शूद्रों तथा महिलाओं द्वारा शिक्षा का प्रयास घोर दंडनीय अपराध था। आम जन की भाषा पाली में लिखे बौद्ध ग्रंथों तथा बौद्ध संघों की जनतांत्रिक शिक्षा प्रणाली की मिसाल छोड़ दिया जाय, तो प्राचीन तथा मध्यकालीन इतिहास में शायद ही कहीं आमजन की भाषा ज्ञान की भाषा या शिक्षा का माध्यम रही हो। इंगलैंड में कैंब्रिज तथा ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालयों में क्रमशः 1892 और 1894 में विषय तथा शिक्षा के माध्यम के रूप में अंग्रेजी को शामिल किया गया। गौर तलब है कि इंग्लैंड के निम्न वर्गों ने लंबे संघर्ष के बाद 1880 के दशक में मताधिकार हासिल किया था। भारत में अंग्रेजी शासक भाषा थी, इंग्लैंड में आमजन की। मुगलकाल में शासकीय भाषा फारसी होने से ज्ञान की भाषा बन गयी। 'पढ़े फारसी बेचे तेल, ये देखो कुदरत का खेल' एक मशहूर कहावत है। चूंकि मध्य युग में सत्ता की वैधता का स्रोत ईश्वर था तथा धर्म वैधता की विचारधारा, धर्म-ग्रंथो में वर्णित ज्ञान ही ज्ञान था एवं धर्म ग्रंथों का अध्ययन ही शिक्षा का विषय। इसलिए पाठशालाओं तथा मदरसों पर क्रमशः धर्मनिष्ठ ब्राह्मण आचार्यों तथा मौलवियों का नियंत्रण होता था। औपनिवेशिक शासन में अंग्रेजी शिक्षा और ज्ञान की भाषा बन गयी। शिक्षा के सार्वभौमिक संवैधानिक प्रावधान से शिक्षा की ब्राह्मणवादी वर्जनाएं खत्म हुईं। राजकीय तथा केंद्रीय विश्वविद्यालयों तथा अन्य उच्च शिक्षा के संस्थानों में वंचित तबकों के लड़के-लड़कियां पहुंचने लगे। शिक्षा के जरिए ज्ञान पर ब्राह्मणवादी वर्चस्व को चुनौती मिलने लगी। विश्व बैंक की इच्छा के अनुकूल, शिक्षा को प्रकारांतर से पूर्णरूपेण व्यावसायिक सामग्री बनाकर, सरकार की नई शिक्षा नीति नये तरह की वंचना तथा वर्जना की साजिश है। सिर्फ अमीर ही शिक्षा प्राप्त कर सकेगा। गरीबों को भी शिक्षा चाहिए तो कर्ज लेकर पढ़े जिसे चुकाने के लिए भविष्य गिरवी रखना पड़ेगा।

प्राचीन यूनान में प्लेटो की 'एकेडमी' की स्थापना के पहले अमीर नागरिक अपने बच्चों की शिक्षा की निजी व्यवस्था करते थे। प्लेटो की एकेडमी पहला सार्वजनिक शिक्षा संस्थान था। प्लेटो के ग्रंथ *रिपब्लिक* में शिक्षा को इतना अधिक स्थान दिया गया है कि जन-संप्रभुता के सिद्धांत के प्रवर्तक 18वीं शताब्दी के दार्शनिक रूसो ने उसे शिक्षा पर लिखा गया सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ बताया है। कथनी-करनी के अंतर्विरोध का दोगलापन पूंजीवाद की ही नहीं, वर्ग समाजों के इतिहास का अभिन्न हिस्सा रहा है। यह दोगलापन सर्वाधिक उसकी शिक्षा व्यवस्था में परिलक्षित होता है। एक तरफ प्लेटो कहता है कि शिक्षा का काम विद्यार्थी को बाहर से ज्ञान देना नहीं है। मस्तिष्क गतिशील है तथा उसके पास अपनी आंखें हैं। शिक्षा काम सिर्फ प्रकाश दिखाना है, यानी मस्तिष्क की गतिशीलता के लिए परिवेश (एक्सपोजर) प्रदान करना है। वह खुद-ब-खुद ज्ञान के विचारों की तरफ चुंबकीय प्रभाव से आकर्षित होगा। दूसरी तरफ जन्म से ही शुरू होने वाली शिक्षा व्यवस्था के लिए सख्त पाठ्यक्रम की योजना पेश करता है, सख्त सेंसरशिप से चुनी गयी विषय वस्तु के साथ। वर्णाश्रम की तर्ज पर उसके आदर्श राज्य में ज्ञानी राजा होगा। शिक्षा के माध्यम से श्रम (वर्ग) विभाजन होता है। ज्ञानी (दार्शनिक) राज करता है; साहसी सैनिक होता है तथा बाकी भिन्न-भिन्न आर्थिक उत्पादन का काम करते हैं। जैसे ब्रह्मा ने विभिन्न लोगों को अपने शरीर के विभिन्न अंगों से पैदा करके सामाजिक असमानता का निर्माण किया वैसे ही प्लेटो का दार्शनिक राजा यह मिथ फैलाता है कि ईश्वर ने लोगों को सोना, चांदी और पीतल-तांबे जैसे तुच्छ धातुओं के गुणों के साथ पैदा किया है जो कि अपरिवर्तनीय है। सोने के गुण वाला दार्शनिक

राजा होता है, चांदी वाला सैनिक और तांबे पीतल वाले आर्थिक उत्पादक। अंधकार युग कहे जाने वाले मध्ययुग में और जगहों की तरह यूरोप में भी सत्ता की वैधता का स्रोत ईश्वर था तथा धर्म उसकी विचारधारा। धार्मिक ज्ञान ही ज्ञान था तथा पादरी ही शिक्षक भी था और ज्ञान की परिभाषा का ठेकेदार भी। धार्मिक शिक्षा के ज्ञान के अतिक्रमण के 'अपराध' में वैज्ञानिक ब्रूनो को सन 1600 में जिंदा जला दिया गया था। कैथलिक आस्था की कई बुनियादी मान्यताओं के खंडन के आरोप में उनपर सात साल मुकदमा चला था। ज्ञान की स्थापित परिभाषा के उल्लंघन के आरोप में गैलेलियो का हश्र सर्वविदित है। रूसो को अपने उपन्यास एमिली में चर्च नियंत्रित शिक्षा की आलोचना के लिए फ्रांस छोड़कर भागना पड़ा। कहने का मतलब जो भी शासकवर्ग की ज्ञान की परिभाषा का अतिक्रमण करता है उसे दंडित किया जाता है, चाहे वह ब्रूनो, गैलेलिओ, रूसो हों या हैदराबाद विश्वविद्यालय तथा जेएनयू के शिक्षक-छात्र हों।

नागपुर से संचालित मौजूदा सरकार ने सत्ता की बागडोर संभालते ही शिक्षा तथा जमीन के कानूनों में तब्दीली शुरू कर दी। भूमि अधिग्रहण अध्यादेश, राज्य सभा में बहुमत की कमी के चलते पारित नहीं हो सका। प्रस्तावित शिक्षा नीति को संसद में पेश किए बिना ही, आज्ञाकारी, 'स्वायत्त' विश्वविद्यालय आयोग (यूजीसी) तथा मानव संसाधन मंत्रालय के फरमानों के जरिए, उसके प्रावधानों को उच्च शिक्षा संस्थानों में लागू करना शुरू कर दिया है। इसके विरोध में शिक्षक तथा छात्र लगातार आंदोलित हैं। इस क्रम में यूजीसी पर 16 मई को हजारों शिक्षकों ने धरना दिया। फरवरी में, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय छात्रसंघ (जेएनयूएसयू) के नेतृत्व में महीनों से चल रहे ऑक्यूपाई यूजीसी आंदोलन को पटरी से उतारने के लिए, खोखले नारेबाजी में परिभाषित देशभक्ति का उन्माद खड़ा करके उच्च शिक्षा परिसरों पर धावा बोल दिया। रोहित वेमुला की शहादत से उपजे राष्ट्रव्यापी छात्रों के उभार तथा हैदराबाद तथा जेएनयू के शिक्षक-छात्र आंदोलन के दमन पर काफी लिखा जा चुका है, उस पर चर्चा इस लेख का विषय नहीं है।

1833 में ब्रिटिश संसद में भारत में अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली लागू करने के पक्ष में बोलते हुए मैकाले ने कहा था कि इससे (शिक्षा पद्धति लागू करने से) बिना अपनी भौतिक उपस्थिति के अंग्रेज 1000 साल तक भारत पर बेरोकटोक राज कर सकेंगे। कितनी सही निकली मैकाले की भविष्यवाणी। औपनिवेशिक साम्राज्यवाद तथा विश्वबैंक-अंतरराष्ट्रीय मुद्राकोष संचालित नवउदारवादी साम्राज्यवाद में यह फर्क है कि अब किसी लॉर्ड क्लाइव की जरूरत नहीं है, सारे सिराजुद्दौला भी मीर जाफर बन गये हैं। यानी ऐतिहासिक रूप से, शिक्षा का उद्देश्य ज्ञान को शासक वर्ग हित के सीमित दायरे में परिभाषित कर उस पर एकाधिकार स्थापना से वर्चस्वशाली के वर्चस्व को बरकरार रखना और मजबूत करना है। जैसा ऊपर मार्क्स के हवाले से कहा गया है, पूंजीवाद माल का ही नहीं विचारों का भी उत्पादन करता है। युगचेतना के निर्माण तथा पोषण में शिक्षा की निर्णायक भूमिका होती है। ऐंतोनियो ग्राम्सी के शब्दों में, शिक्षा शासक वर्ग के वर्चस्व के लिए जैविक एवं परंपरागत बुद्धिजीवी पैदा करती है। मुख्यधारा से ही विद्रोही धाराएं भी निकलती हैं। विद्रोही विचारों के प्रसार को रोकने का शासक वर्ग हर संभव उपाय करता है, क्योंकि युगचेतना को चुनौती इसके वर्चस्व को चुनौती है।

विश्वबैंक के दबाव में भूमंडलीय पूंजी की हितपूर्ति में जो नीतिगत तथा संस्थागत परिवर्तन मनमोहन सरकार, शायद लोकलज्जा की वजह से, मंद गति से कर रही थी, मोदी सरकार ने बागडोर संभालते ही आक्रामक ढिठाई से आगे बढ़ाना शुरू कर दिया। पिछली शताब्दी के तीसरे दशक के अंतिम सालों में शुरू हुए उदारवादी पूंजीवाद के संकट का स्रोत अतिरिक्त उत्पादन था। अधिकतम मुनाफे के सिद्धांत पर आधारित व्यवस्था में शोषणपूर्ण उत्पादन-विनिमय प्रणाली के चलते, कामगर वर्ग तबाही के कगार पर था तथा बेरोजगारों की फौज बढ़ती जा रही थी। समाज के व्यापक तबके में क्रयशक्ति के अभाव से मांग-आपूर्ति का समीकरण गड़बड़ा गया और पूंजीवाद ध्वस्त होने की कगार पर पहुंच गया। इस संकट का समाधान निकला कीन्स के अर्थशास्त्र से जिसके सिद्धांतों पर अहस्तक्षेपीय संवैधानिक राज्य की जगह कल्याणकारी राज्य ने ली। कल्याणकारी राज्य की मिश्रित अर्थव्यवस्था में तर्कशील मानव संसाधन की आवश्यकता के लिए स्वायत्त उच्च शिक्षा संस्थानों की स्थापना हुई तथा पहले से ही मौजूद संस्थानों को पुनर्गठित किया गया। पाठ्यक्रम की रूपरेखा तथा क्लासरूम की पढ़ाई से स्वतंत्र, विश्वविद्यालय उन्मुक्त चिंतन-मनन; विचार-विमर्श; शोध-अन्वेषण तथा अन्याय के विरुद्ध विचार-निर्माण के केंद्र भी हैं। इंसानी दिमाग के गतिविज्ञान के नियम पूरी तरह निर्धारित, नियंत्रित नहीं किये जा सकते। उन्हें पाठ्यक्रम की सीमाओं में नहीं बांधा जा सकता। इतिहास गवाह है कि शिक्षा की मुख्यधारा से ही विद्रोही, वैकल्पिक धाराएं भी प्रस्फुटित होती हैं।

जहां उदारवादी पूंजीवाद के संकट की जड़ में आमजन की क्रयशक्ति की कमी से, अतिरिक्त उत्पादित माल का संकट था, नवउदारवादी भूमंडलीय पूंजीवाद का संकट फायदेमंद, सुरक्षित निवेश के नीड़ की तलाश में अतिरिक्त पूंजी का है। रीयल एस्टेट के बाद शिक्षा को निवेश का सर्वाधिक सुरक्षित क्षेत्र माना जा रहा है। कहने का मतलब कि वर्चस्व की हिफाजत के लिए जैविक तथा पारंपरिक बुद्धिजीवी पैदा करने की शिक्षा की भूमिका में एक अतिरिक्त आयाम और जुड़ गया, व्यावसायिक आयाम। विश्वबैंक द्वारा इसे खरीद-फरोख्त की व्यापारिक सेवा के रूप में गैट्स में शामिल करने के पहले से ही शिक्षा अत्यंत लाभकारी व्यवसाय बन चुका है। सारे कॉरपोरेट, खासकर रीयल एस्टेट के कारोबारी,''ज्ञान'' के प्रसार में जी-जान से जुट गये हैं। यदि विश्वबैंक अपने मंसूबे में कामयाब रहा तो अन्य उपक्रमों की ही तरह शिक्षा का भी पूर्ण कॉरपोरेटीकरण हो जाएगा तथा उसकी अंत:वस्तु की बात छोड़िए, उच्च शिक्षा गरीब तथा दलित-आदिवासियों की पहुंच से ही बाहर हो जायेगी और शैक्षणिक कर्ज अतिरिक्त आवारा पूंजी का एक और ठिकाना बन जायेगा।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद, राज्य के वैचारिक औजारों द्वारा साम्यवाद विरोधी

अभियान के बावजूद अमेरिका के विश्वविद्यालय परिसर क्रांतिकारी विमर्श तथा गतिविधियों के केंद्र के रूप में उभर रहे थे। शीत युद्ध में अमेरिका और सोवियत संघ आपस में नहीं युद्ध कर रहे थे बल्कि अपने-अपने आंतरिक 'शत्रुओं' से निपट रहे थे। शीतयुद्ध के आवरण में सोवियत संघ के साथ साम्यवादी विचारधारा को ही राष्ट्रीय दुश्मन घोषित कर शिक्षा संस्थानों पर हमला बोल दिया गया था। देशद्रोह का हव्वा खड़ा कर कम्युनिस्टों तथा उनके समर्थकों की धर-पकड़ शुरू हो गयी थी। भारत के मौजूदा यूएपीए की ही तरह खतरनाक पैट्रियाट तथा अन्य काले कानूनों के तहत तमाम बुद्धिजीवियों, फिल्मकारों, शिक्षाविदों को निशाने पर लिया गया। आइंस्टाइन की निगरानी के लिए एफबीआई में एक अलग सेल थी लेकिन सेलिब्रिटी स्टेटस ने उन्हें बचा लिया। मैनहट्टन परियोजना से जुड़े रहे रोजेनबर्ग पति-पत्नी को परमाणु बम से संबंधित फार्मूला लीक करने के आरोप में मौत की सजा दे दी गयी। हजारों शिक्षकों तथा छात्रों को प्रताड़ित किया जा रहा था। नई शिक्षा नीति में प्रणाली तथा पाठ्यक्रम ऐसे बनाए गये जिससे चिंतनशीलता को कुंद कर राज्य पर बौद्धिक निर्भरता सिखायी जा सके। अमेरिकी अपनी शिक्षा पद्धति का मजाक उड़ाते हुए उसे 'बहरा बनाने की प्रक्रिया' (डंबिंग प्रॉसेस) कहते हैं।

नरेंद्र मोदी की सरकार ने सत्ता की बागडोर संभालते ही शिक्षा नीति में बदलाव तथा परिसरों पर हमला शुरू कर दिया। जिस तरह कोई अंतिम सत्य नहीं होता, उसी तरह कोई अंतिम ज्ञान नहीं होता। ज्ञान एक निरंतर प्रक्रिया है। हर पीढ़ी पिछली पीढियों की उपलब्धियों तथा योगदानों को सहेज कर उसे आगे बढ़ाती है। वैचारिक द्वंद्व इस प्रक्रिया को गति देता है। मैं अपनी पहली क्लास में, हर साल, कोर्सेतर अन्य बातों के साथ दो बातें जरूर बताता हूं। पहली कि किसी भी ज्ञान कि कुंजी है, सवाल-दर-जवाब-दर-सवाल, अपने वैचारिक संस्कारों से शुरू कर अनपवाद हर बात पर सवाल। दूसरी बात कि उच्च शिक्षा की ये संस्थाएं ज्ञान देने के लिए नहीं बनी हैं। इनका वास्तविक मकसद विद्यार्थियों को ऐसी सूचनाओं एवं दक्षताओं से लैस करना है जिससे व्यवस्था को बरकरार रखा जा सके, यद्यपि घोषित उद्देश्य चिंतनशील नागरिक तैयार करना है। ज्ञान के लिए अलग से प्रयास करना पड़ता है। इसी अलग से प्रयास की जुर्रत में मोदी सरकार तथा संघ गिरोह ने देशद्रोह का हव्वा खड़ा करके हैदराबाद केंद्रीय विश्वविद्यालय तथा जेएनयू पर पूर्वनियोजित हमला बोल दिया। इन विश्वविद्यालयों से ही चिंतनशील इंसान भी निकलते हैं तथा विद्रोह की आवाज बुलंद करते हैं, शिक्षा के चलते नहीं शिक्षा के बावजूद।

वैसे तो विश्व बैंक के आदेशानुसार, शिक्षा के पूर्ण उपभोक्ताकरण तथा व्यावसायीकरण का सिलसिला कहीं लुके-छिपे, कहीं खुले-आम, उसी समय शुरू हो गया था जब नरसिंह राव सरकार ने 1991 में डब्लूटीओ प्रस्तावित भूमंडलीकरण के प्रस्तावों पर दस्तखत किया था। अटलबिहारी वाजपेयी के नेतृत्व में एनडीए सरकार के शासनकाल में, जब शिक्षा मंत्रालय, मानव संसाधन मंत्रालय बन गया तब से यह सिलसिला धड़ल्ले से खुलेआम हो गया। पिछले ढाई दशकों में इंजीनियरिंग तथा मैनेजमेंट के तमाम निजी कालेज तथा विश्वविद्यालय कुकुरमुत्तों की तरह देश के कोने कोने में उग आए। दिल्ली में इन शिक्षण दुकानों को संबद्धता दिलाने के लिए, 1998 में सुषमा स्वराज के तहत भाजपा शासन काल में, राज्य विश्वविद्यालय के रूप में इंदप्रस्थ विश्वविद्यालय की स्थापना की गयी। 1995 में विश्व बैंक ने शिक्षा को सेवाओं के व्यापार पर समस्त समझौता (गैट्स) में व्यापारिक सेवा के रूप में शामिल कर लिया। यूपीए सरकार इस दस्तावेज पर दस्तखत को सिद्धांततः राजी थी लेकिन शायद शैक्षणिक जगत में व्यापक विद्रोह के भय से इस पर दस्तखत नहीं कर पाई।

2015 में नैरोबी में एनडीए सरकार इस पर दस्तखत कर आई। इसके लिए पथ प्रशस्त करने के लिए सरकार ने शिक्षानीति में व्यापक फेर-बदल शुरू कर दिया तथा उच्च शिक्षा संस्थानों पर तीन तरफा हमला। शिक्षा नीति में परिवर्तन, उच्च शिक्षा संस्थानों के मुखिया के पद पर संदिग्ध शैक्षणिक योग्यता वाले आरएसएस पृष्ठभूमि के व्यक्तियों की नियुक्ति तथा शिक्षक-छात्रों के प्रतिरोध का दमन। दमन में आरएसएस गिरोह की छात्र इकाई एबीवीपी पांचवे कॉलम का काम करती है, जैसा कि हैदराबाद तथा जेएनयू के उदाहरणों से स्पष्ट है। शिक्षा को छिन्न-भिन्न करने की कवायद पिछली, यूपीए सरकार के समय ही शुरू हो गयी थी। मौजूदा सरकार उस एजेंडे को और आक्रामक तरीके से लागू कर रही है।

पिछली सरकार के कार्यकाल में दिल्ली विश्वविद्यालय आनन-फानन में, कोर्स परिवर्तन के सारे स्थापित मानदंडों को धता बताते हुए, हड़बड़ी में चार-साला स्नातक कार्यक्रम (एफवाईपी) शुरू कर दिया था जिसका विश्वविद्यालय समुदाय ने व्यापक विरोध किया। यूपीए शासनकाल के इस विरोध में भाजपा समर्थक संगठन एनडीटीएफ भी था। मोदी सरकार के आते ही इसे रामबाण बताने वाले, विश्वविद्यालय आयोग के अध्यक्ष को यह कार्यक्रम नियमों का उल्लंघन लगा। चार साला कार्यक्रम रद्द कर उसे तीन साला में बदल दिया गया तथा कुछ ही साल पहले शिक्षकों तथा छात्रों के विरोध के बावजूद वार्षिक प्रणाली की जगह थोपी गई सेमेस्टर प्रणाली की वापसी हो गई। साल भीतर ही सरकार ने शिक्षानीति में आमूल परिवर्तन शुरू कर दिया। केंद्रीय विश्वविद्यालय अधिनियम समेत प्रस्तावित उच्च शिक्षानीतियां, यदि पारित हो गयीं तो विश्वविद्यालयों की स्वायत्तता नष्ट हो जायेगी तथा चिंतन-मनन एवं शोध-अन्वेषण के ये केंद्र कुशल कारीगर पैदा करने के कारखाने बन जायेंगे। विश्वविद्यालय ज्ञान के केंद्र से कारीगरी सिखाने के वर्कशॉप बन जाएंगे।

यह लेख इस बात से खत्म करना चाहूंगा कि इंसान अनुभव, अध्ययन, प्रयोग तथा दिमाग के प्रयोग से ज्ञान अर्जित करता है। शिक्षा शासक वर्ग के विचारों को युग का विचार बताकर शासक वर्ग के हित में युगचेतना का निर्माण करने तथा बरकरार रखने के मकसद से ज्ञान को एक खास दिशा में परिभाषित करती है, शासक विचारों के प्रसार से युग चेतना का निर्माण करती है। देश भर में जारी छात्र आंदोलन युगचेतना के विरुद्ध सामाजिक चेतना के जनवादीकरण की दिशा में एक निर्णायक पहल है। ❐

ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन ही नहीं, राजनीतिक और सांस्कृतिक आंदोलन भी है

शिक्षाशास्त्र और संचार माध्यम

रोहित धनकर आदि (सं.)
बच्चें और किताबें (प्रकाश्य)
कृष्ण कुमार
शैक्षिक ज्ञान और वर्चस्व 125.00/
शिक्षा और ज्ञान 125.00
गुलामी की शिक्षा और राष्ट्रवाद 375.00
सुरेशचंद्र शुक्ल, कृष्ण कुमार (सं.)
शिक्षा का समाजशास्त्रीय संदर्भ 550.00
बारबियाना स्कूल के बच्चे
अध्यापक के नाम पत्र 260.00/175.00
रवींद्रनाथ ठाकुर
रवींद्रनाथ का शिक्षा दर्शन 325.00/150.00
जोनाथन कोज़ोल
क्रांति की बारह खड़ी 450.00/225.00
पाओलो फ्रेरे
उत्पीड़ितों का शिक्षाशास्त्र 325.00/150.00
प्रौढ़ साक्षरता 195.00
उम्मीदों का शिक्षाशास्त्र 525.00/225.00
मार्टिन कारनॉय
सांस्कृतिक साम्राज्यवाद और शिक्षा 675.00/325.00
जॉन डिवी
शिक्षा और लोकतंत्र 725.00/225.00
गैरेथ बी. मैथ्यूज
बच्चों से बातचीत 225.00/125.00
नरिंदर सिंह
संस्कृति, शिक्षा और लोकतंत्र 175.00
जार्ज डैनीसन
बच्चों का जीवन 450.00/225.00
मरिया मांटेसरी
ग्रहणशील मन 500.00/250.00
रामशरण जोशी
आदिवासी समाज और शिक्षा 395.00/195.00
बीट्रीस एवॉलास
गरीब बच्चों की शिक्षा 475.00/225.00
मूनिस रज़ा
शिक्षा और विकास के सामाजिक आयाम 475.00/225.00
न्गुगी वॉ थ्योंगो
औपनिवेशिक मानसिकता से मुक्ति 525.00/275.00
सुसांत गुणतिलक
पंगु मस्तिष्क 625.00/350.00
अनिल सद्गोपाल
शिक्षा में बदलाव का सवाल 625.00/275.00
अंतोन मकारेंको
शिक्षा की महागाथा, (तीन भागों का सेट) 985.00
सिल्विया एश्टन वॉरनर
अध्यापक 325.00/150.00
साधना सक्सेना
शिक्षा और जन आंदोलन 425.00/195.00
एल.एस. व्यगोत्स्की
विचार और भाषा 350.00
ए. मैतेलार्त
संचार का सिद्धांत 350.00
पीटर गोल्डिंग
जनमाध्यम 325.00
अक्षय कुमार
शिक्षा की मुक्ति 525.00
रमेश दवे
मैं इस तरह नहीं पढ़ूंगी 360.00/175.00
जेम्स ब्रिटन
भाषा और अधिगम 450.00
परमेश आचार्य
देशज शिक्षा, औपनिवेशिक विरासत और जातीय विकल्प 375.00/175.00
पाओला आलमान
भूमंडलीय पूंजीवाद के विरुद्ध आलोचनात्मक शिक्षा 650.00
कमलानंद झा
पाठ्यपुस्तक की राजनीति 450.00
जवरीमल्ल पारख
जनसंचार माध्यमों का वैचारिक परिप्रेक्ष्य 375.00
हिंदी सिनेमा का समाजशास्त्र 550.00
जनसंचार माध्यम और सांस्कृतिक विमर्श 550.00
पूरनचंद्र जोशी
संस्कृति, विकास और संचारक्रांति 425.00
रेमंड विलियम्स
संचार माध्यमों का वर्ग चरित्र 395.00/220.00
टेलीविजन : प्रौद्योगिकी और सांस्कृतिक रूप 325.00
रामशरण जोशी
साक्षात्कार : सिद्धांत और व्यवहार 425.00
मुरलीमनोहर प्रसाद सिंह (सं.)
संचार माध्यम और पूंजीवादी समाज 525.00
सुभाष धूलिया
सूचना क्रांति की राजनीति और विचारधारा 375.00
हरबर्ट आई. शिलर
संचार माध्यम और सांस्कृतिक वर्चस्व 250.00
बुद्धि के व्यवस्थापक 450.00
नौम चॉम्स्की
जनमाध्यमों का मायालोक : लोकतांत्रिक समाजों में विचारों पर नियंत्रण 425.00/225.00
राबर्ट डब्ल्यू. मैक्चेस्नी आदि (सं)
पूंजीवाद और सूचना का युग 450.00
एडवर्ड एस. हरमन आदि
भूमंडलीय जनमाध्यम 525.00
टी. डब्ल्यू. एडर्नो
संस्कृति उद्योग 325.00
मार्क पोस्टर
आज की दुनिया में सूचना पद्धति 450.00

विस्तृत जानकारी के लिए लिखें
ग्रंथ शिल्पी (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड, बी-7, सरस्वती कामप्लेक्स, सुभाष चौक, लक्ष्मी नगर, दिल्ली 110092
फोन : 22025140, 65179059, (R) 64688542, 22731014
E-mail: granthshilpi.delhi@gmail.com; Website: www.granthshilpi.com

'हम तो कलम के सिपाही हैं'

वरवर राव से रामू रामानाथन की बातचीत

नाटककार रामू रामानाथन को दो भागों में दिये गये अपने साक्षात्कार के पहले भाग में 'विरसम' के संस्थापक सदस्य, माओवादी विचारक एवं तेलुगु कवि वरवर राव ने एक बुद्धिजीवी की भूमिका को महत्वपूर्ण माना है। इस साक्षात्कार में उन्होंने भारतीय राज्यसत्ता द्वारा दमन के इतिहास पर और राज्य का दर्जा प्राप्त कर चुके तेलंगाना से जुड़े मुद्दों पर बात की है...

वर्तमान हैदराबाद और वर्तमान तेलंगाना के बारे में आपके क्या खयाल हैं?

तेलंगाना सरकार चंद्रशेखर बाप-बेटे की सरकार है। बाप एक ओर विकास के पुराने मॉडल के अनुरूप खेती और सिंचाई की बातें करता है और 'बंगार तेलंगाना' (स्वर्णिम तेलंगाना) बनाने के वादे करता है। किसान आत्महत्या करते जा रहे हैं और वह लफ्फाजी में लगे हैं। दूसरी ओर बेटा औद्योगिकीकरण की बातें करता है। टाटा तेलंगाना का ब्रांड एंबेसडर बन गया है। हैदराबाद के पास की पांच हजार एकड़ जमीन विमानन उद्योग को दे दी गयी है।

चन्द्रबाबू नायडू भी तो हैं?

चन्द्रबाबू ने तो आंध्र प्रदेश में और ज्यादा उद्योगों को न्यौता देने का प्रयास किया है। लेकिन ध्यान रखिए, माओवादी एक बार फिर तेलंगाना में प्रवेश करने की तैयारी कर रहे हैं क्योंकि हमारा शीर्ष नेतृत्व अभी भी सुरक्षित और मजबूत है।

पिछले साल (2014 में) तेलंगाना की राज्य सरकार ने एक कांफ्रेंस का आयोजन रुकवा दिया था। क्या यही असली चेहरा है नयी सरकार का?

हां! जिस तरीके से 21 सितंबर 2014 की हमारी मीटिंग रोकी गयी वह इसका सबसे बड़ा सबूत है। डॉ. रमानाथम की हत्या के बाद भी ऐसा ही हुआ था। हैदराबाद में सारस्वत परिषद में एक सभा हुई थी। वक्ताओं को बोलने की अनुमति तो गयी लेकिन श्रोताओं को भीतर नहीं जाने दिया गया। बाहर अर्द्धसैन्य बलों को तैनात किया गया था और वे श्रोताओं को सभागार में घुसने नहीं दे रहे थे। इसी तरह 21 सितंबर 2014 को सुंदरय्या विज्ञान भवन में, जो कि किसी ट्रस्टी द्वारा संचालित एक निजी सभागार है, होने वाली हमारी मीटिंग को सरकार ने रोक दिया था। सात सौ लोगों को गिफ्तार किया। उसके बाद, तेलंगाना विद्यार्थी वेदिका के छात्रों की सभा तक को अनुमति नहीं दी गयी। दूसरी तरफ विवेक, सूर्यम जैसे लोगों की और आदिवासी लड़कियों की हत्याएं हो रही हैं।

सात सौ लोग गिरफ्तार हुए...

सरकार कहती है कि ये लोग औद्योगिक नीतियों में बाधा डाल रहे हैं और इन लोगों को मीटिंग करने दी गयी तो इससे कॉरपोरेट निवेशकों का भरोसा कम हो जायेगा। सुंदरय्या विज्ञान भवन जैसे स्थान पर मीटिंग रुकवाना और उसके सामने के पार्क को जेल बना डालना तो और ज्यादा घटिया काम है।

तो 43 लोगों को थाने में कैद कर लिया गया।

जी हां, युगप्रवर्तक कवि श्रीश्री को भी 1975 में यहीं बंद किया गया था। हमारी गिरफ्तारी के दूसरे दिन, हमारी सचिव लक्ष्मी ने एक तेलुगु दैनिक पत्र में लेख लिखा 'कौन कहता है कि मीटिंग नहीं हुई?'

क्यों, क्या हुआ? कैसे हुई मीटिंग?

(हंसते हुए) जेल में हम सभी लोग थे ही। हमने तो बल्कि चैन से बिना किसी विघ्न के अपनी मीटिंग कर ली।

टीएसआर (तेलंगाना राष्ट्र समिति) के 'हरित हरम' कार्यक्रम पर क्या कहना चाहेंगे ?

सरकार ने 'हरित हरम' कार्यक्रम आदिवासियों की जमीनें हड़पने के लिए बनाया है। के. चंद्रशेखर राव अकेले ही वे सब काम कर रहे हैं जो चंद्रबाबू नायडु और वाई. एस. राजशेखर रेड्डी मिल कर भी नहीं कर पाये। वे विश्व बैंक के सबसे उम्दा पिट्ठू हैं। अंतर केवल इतना है कि वे बहुत शातिर आदमी हैं। इस बात को समझिए कि पंद्रह वर्षों के लंबे आंदोलन के दौरान वे तैयार हुए हैं। वह आदमी जनता की नब्ज पहचानता है और उसे कैसे चुप कराना है, वह जानता है।

1970 में स्थापित हुए 'विरसम' (विप्लवी रचयिताला संघम्, रिवोल्यूशनरी राइटर्स एसोसिएशन) जैसे संगठनों की आज क्या स्थिति है?

'विरसम' अपने 45 वर्ष पूरे कर चुका है। श्री श्री, कुटुम्बा राव, रचाकोण्डा विश्वनाथ शास्त्री, के. वी. रमण्णा रेड्डी, ज्वालामुखी,

निखिलेश्वर, चेराबण्डा राजू, चलासानी प्रसाद, कृष्णा बाई और मैंने विरसम की स्थापना की थी। नयी पीढ़ी, खासतौर से दलित पृष्ठभूमि से आने वाले छात्र, पिछले दशक में विरसम से जुड़ते रहे हैं।

दलितों के विरसम से जुड़ने के क्या कारण हैं?

इसके पीछे दो कारण हैं। एक तो जो दलित आंदोलन करमचेदू नरसंहार के बाद लड़ाकू ढंग से शुरू हुआ था, वह चुन्दूर नरसंहार के समय, सन् 1992 से, कमजोर पड़ने लगा। इसके कमजोर पड़ने की मुख्य वजह यह थी कि इसके नेतृत्व को लगता था कि यह सिर्फ आत्म-सम्मान का आंदोलन है। जमीन के सवाल से उन्होंने इस आंदोलन को जोड़ा ही नहीं। आज वे केवल वोट के सहारे अपने अधिकार पा लेना चाहते हैं। इसलिए करमचेदू की घटना के बाद से जो दलित युवा वर्ग आंदोलन से जुड़ा, उसका मोहभंग होने लगा सन 1992 तक। और भूमंडलीकरण की घातक शक्तियां भी धीरे-धीरे क्रांतिकारी आंदोलन में प्रवेश करके उसे कमजोर कर रही थीं।

कैसे?

सन 1992 में , जब आंध्र प्रदेश के मुख्यमंत्री नेदुरुमिल्ली जनार्दन रेड्डी थे, तब यही दलित आंदोलन अलग रूप ले चुका था। मुख्यमंत्री ने ऐलान किया कि चुन्दुर नरसंहार के जो-जो आरोपी रेड्डी जमींदार लोग आत्मसमर्पण नहीं करेंगे उनकी जमीनें जब्त कर ली जायेंगी। यह अच्छा मौका था, क्रांतिकारी आंदोलन के साथ मिल कर विरसम ने गेंद मुख्यमंत्री के पाले में उछालते हुए मांग उठायी कि इस भले काम की शुरुआत जब्त की गयी जमीनों को पीड़ितों में बांटकर की जाय। हमने इसके लिए एक कमेटी बनायी। पी. जी. वर्धन राव इस कमेटी के समन्वयक थे और तारकम थे अध्यक्ष। तब राज्य विधानसभा के स्पीकर ने पी. जी. वर्धन राव को, जो चुन्दुर के पास तेनाली में रहते थे, जान से मारने के लिए एक माफिया को भेजा ताकि वे डर जायें।

आज स्वच्छंद किस्म के दलित आंदोलनों और अस्मिता (पहचान) वाले आंदोलनों की सबसे बड़ी अड़चन ये है कि वे स्टेट के चरित्र को समझते ही नहीं। क्या आपको लगता है 'विरसम' अकेला संगठन है जिसने कदम-कदम पर स्टेट का चरित्र उद्घाटित किया है...

हां। स्टेट कोई अमूर्त चीज तो है नहीं। यह शासक वर्ग के चरित्र को और उत्पादन शक्तियों के संघर्ष को दर्शाता है। जब हम समाज को अर्द्धसामंती, अर्द्ध औपनिवेशिक और दलाल कहते हैं तो इसका मतलब यही होता है कि इन्हीं ताकतों का स्टेट पर कब्जा है। इसलिए यह व्यवस्था दूसरे वर्गों का दमन और उत्पीड़न करती है। नक्सलबाड़ी के बाद, किसान और मजदूर वर्ग की अगुवाई में इन सभी वर्गों ने इस व्यवस्था के खिलाफ जनयुद्ध छेड़ दिया है। इसलिए, भूमि और मुक्ति के लिए जनता के संघर्ष का मकसद है स्टेट से ताकत छीन लेना। जिन लेखकों के पास दुनिया को देखने का मार्क्सवादी नजरिया है, केवल वे ही स्टेट के चरित्र से जनता को रूबरू करा सकते हैं ताकि जनता क्रांतिकारी विचारधारा से खुद को लैस कर सके। 'विरसम' का अपना घोषणापत्र है, मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओवाद (मालेमा) हमारी विश्वदृष्टि है और इस मुद्दे पर, हमारा नजरिया एकदम स्पष्ट है।

आज के हालात के हिसाब से हम क्यों कहते हैं कि 1991-1992 ने मूवमेंट को काफी दूर तक प्रभावित किया है।

तीन बातें हुईं। 1991 के बाद से नव-उदारवादी शक्तियों और हिंदुत्व की शक्तियों का गठजोड़ कायम हुआ, साथ ही भारत में जनतांत्रिक मूल्यों में लगातार गिरावट आती गयी। 1991 पहला जाहिर हमला था वैश्वीकरण की शक्तियों का और 1992 में बाबरी मस्जिद ढहाई गयी। इन सब के शुरुआती लक्षण तो अस्सी के दशक में ही मिलने लगे थे जब 1984 में सिखों का कत्लेआम किया गया, भोपाल गैस त्रासदी हुई और देश को 21वीं सदी में ले जाने जैसी बातें करने वाले राजीव गांधी का कांग्रेस में बड़े नाटकीय अंदाज में प्रवेश हुआ। तीसरी घटना थी पीपुल्स वार पार्टी पर आधिकारिक तौर से प्रतिबंध लगाया जाना और साथ ही रेडिकल स्टूडेण्ट यूनियन, रेडिकल यूथ लीग, ऑल इंडिया रिवोल्यूशनरी स्टूडेंट फेडरेशन, रैयतु कुली संघम्, सिंगरेनी कार्मिक सामाख्या और दंडकारण्य आदिवासी किसान मजदूर संगठन जैसे क्रांतिकारी जन-संगठनों पर भी प्रतिबंध लगाया जाना।

मतलब आप यह कहना चाहते हैं कि शासक वर्ग की ये 21वीं सदी में ले चलने वाली बातें आज की सरकार भी कर रही है?

'विरसम' आधुनिक भारत के इतिहास की पूरी राजनीतिक पृष्ठभूमि की व्याख्या कर सकता है। 2002 के गुजरात दंगे, डॉ. मनमोहन सिंह द्वारा अंधाधुंध वैश्वीकरण और राज्य सरकारों द्वारा साम्राज्यवाद की चाकरी, वो चाहे रमण सिंह हो, नवीन पटनायक हो या पश्चिम बंगाल में बुद्धदेव हों-इन सब में एक पैटर्न है।

यानी इसमें कांग्रेस, भाजपा, बीजू जनता दल और सी.पी.एम. सब के सब शामिल हैं...

अपनी सभाओं में और अपने गीतों के माध्यम से हम इस पैटर्न को, इस पृष्ठभूमि को, उजागर करते हैं क्योंकि इसका दुष्प्रभाव तीन प्रमुख सामाजिक तबकों, खासकर पूर्वी और मध्य भारत के आदिवासियों और पूरे देश में मुसलमानों और दलितों पर पड़ रहा है। मैदानी क्षेत्रों में जोतने वालों को जमीन दिलाना है और फैक्ट्रियों में मजदूरों को उत्पादन पर मालिकाना हक दिलाना है। जंगली इलाकों में आदिवासियों को जल, जंगल, जमीन, इज्जत दिलानी है, उनका स्वशासन लाना है। बाजार इन्हीं सामाजिक तबकों के सस्ते श्रम पर आंख गड़ाये हुए है और प्राकृतिक संसाधनों को लूटने की फिराक में है।

और महिलाएं? उनका तो जैसे अस्तित्व ही नहीं है।

मैं जिन तीन प्रमुख सामाजिक तबकों को दमन का शिकार बता रहा हूं उनमें आधी से ज्यादा संख्या महिलाओं की ही तो है।

हैदराबाद में 'बीफ पॉलिटिक्स' पर पर्चा जारी करते हुए वरवर राव तथा 'विरसम' के अन्य सदस्य

वैश्वीकरण की नीतियों से सबसे ज्यादा पीड़ित महिलाएं ही हैं। जैसा कि माओ ने कहा है, गुलामी का जो चौथा जुआ है पितृसत्ता का, उसे महिलाएं ही ढोती हैं। आज देखिए, इस अर्द्ध-सामंती, अर्द्ध-औपनिवेशिक, दलाल तंत्र में, ब्राह्मणवादी हिंदुत्व और पितृसत्ता स्टेट के मौसेरे भाई की तरह हैं और स्टेट खुद साम्राज्यवादी वैश्वीकरण का एजेंट बना हुआ है। इसलिए सामान्य दृष्टि से सारी महिलाएं और विशिष्ट दृष्टि से मेहनतकश महिलाएं सब की सब उत्पीडित हैं। शराबबंदी के संदर्भ में स्टेट की नीति को देख लीजिए, एक गृहस्थ पुरुष भी मालिक और गुलाम की दोहरी भूमिका में होता है जब वह घर में हिंसा करता है। उसने अपने घर की औरत को इस हद तक गुलाम बना डाला है कि विद्रोह के सिवा औरत के पास कोई चारा ही नहीं है।

विरसम इन सब मुद्दों पर कैसे काम करता है?

हम इन सब समस्याओं की जड़ स्टेट को समझते हैं और कहानियों, कविताओं, नाटकों और निबंधों के जरिए हम इसे तफ्सील से समझाते हैं। 2009 के महाराष्ट्र के चुनाव के बाद सरकार ने आपरेशन ग्रीन हंट शुरू किया। तभी से हम आपरेशन ग्रीन हंट का विरोध कर रहे हैं और विकास के इस एकआयामी मॉडल (जिसमें केवल एक वर्ग के हितों की चिंता है, दूसरे वर्गों की या प्रकृति की बिल्कुल चिन्ता नहीं) का विकल्प सुझा रहे हैं। आपातकाल के दौरान मैंने 'फानशेन' का संक्षिप्त अनुवाद पढ़ा जो तेलुगु में 'विमुक्ति' शीर्षक से छपा था। उसी समय मैंने नक्सलबाड़ी संघर्ष द्वारा अपनायी गयी नीतियों का महत्व समझा। विरसम नक्सलबाड़ी और श्रीकाकुलम के संघर्षों से ही प्रेरणा प्राप्त करके संगठित हुआ था।

कैसे?

नक्सलबाड़ी ने कई लेखकों को पैदा किया। आंदोलन से जुड़े रहे श्री श्री, कुटुम्बा राव, रमन्ना रेड्डी, रावी शास्त्री जैसे लेखकों का 1964 में कम्युनिस्टों की राजनीति से मोहभंग हो चुका था। हजारों लोगो की तरह इन लेखकों ने सोचा था कि वर्ग-संघर्ष का जो रास्ता 1951 में छोड़ दिया गया था उसे पुन: अपनाने के लिए ही सी.पी.आई. में विभाजन हुआ है। लेकिन जब इन सारे लोगों का मोहभंग हुआ तो देश के अलग-अलग हिस्सों में विद्रोहियों के अनेक संगठन आकार लेने लगे। तेलुगु में 'दिगम्बर कवुलु' हो या समर सेन के नेतृत्व में 'भूखी पीढ़ी'। ये कुछ ऐसे ही साहित्यिक आंदोलन थे।

क्या यही वह समय था जब वारंगल के कवियों को अपनी रचनात्मकता का आधार मिला? और रेडिकल आंदोलन अपने स्वर्णिम दौर में पहुंचा?

हां, तेलुगु समाज और साहित्य पर दिगंबर आंदोलन का गहरा प्रभाव पड़ा। उन कवियों को और वारंगल के कवियों को तिरुगुबाडु (विद्रोह के कवि) बोला जाता था। इस तरह के लेखक और कवि साथ आये और 'विरसम' की स्थापना हुई। सुब्बाराव पाणिग्रही हमारे प्रेरणास्रोत थे। नक्सलबाड़ी द्वारा दिखाये गये रास्ते और श्रीकाकुलम के संघर्षों की प्रेरणा के परिणामस्वरूप 'विरसम' का गठन हुआ।

श्रीकाकुलम के आदिवासी व किसान संघर्षों के ठंडे पड़ जाने को आप कैसे देखते हैं?

हालांकि हम चीन की तर्ज पर

दीर्घकालिक सशस्त्र संघर्ष द्वारा नवजनवाद लाने की बातें करते थे, लेकिन यह आंदोलन असफल हो गया। इसलिए असफल हुआ क्योंकि हम जनता को विश्वास में न ले सके। इस आत्मालोचना के साथ पार्टी ने खुद को पुनर्संगठित किया। कई तरह के जनसंगठन बनाये गये। जनता को विश्वास में लेने का काम जोर शोर से किया गया जिसका परिणाम 1978 में जगित्याल जैत्रायात्रा के रूप में सामने आया। जन संगठनों द्वारा लिये गये गांव चलो अभियानों से और 1980 में सीपीआई (एमएल) पीपुल्स वॉर की स्थापना से नवजनवादी क्रांति के कार्यक्रम को एक दिशा मिली। अंततः 2006 में दंडकारण्य योजना के आधार पर जनताना सरकार की अगुवाई में जनता के लिए विकास का एक वैकल्पिक मॉडल सामने आया।

तेलंगाना में जमीनी हालात क्या हैं, आप क्या महसूस करते हैं इस बारे में? क्या अब भी 'वे' और 'हम' का अंतर बना हुआ है?

जब भी कोई अस्मितवादी (पहचान आधारित) आंदोलन खड़ा होता है, हमें मुश्किलों का सामना करना पड़ता है। अगर 'वे' से आपका अभिप्राय डेल्टा के उच्च वर्गीय एवं उच्च वर्णीय लोगों से है, तो हां वह अंतर बना हुआ है। 'हम' से मेरा अभिप्राय तेलंगाना की उस आम जनता से है जिसके प्रति रायलसीमा और आंध्रप्रदेश की भी उत्पीड़ित जनता सहानुभूति रखती है। पृथक तेलंगाना आंदोलन में हमने जिस भावना के साथ भाग लिया, वह आंध्र की जनता के खिलाफ कभी नहीं थी।

ऐसा भी दावा किया जाता है कि बिना खून बहाये तेलंगाना को राज्य का दर्जा मिल गया?

ये सब बेसिर पैर की बातें हैं। एक हजार से ज्यादा आत्महत्याएं हुई हैं। सभी विश्वविद्यालयों के परिसर ऑपरेशन ग्रीन हंट का शिकार हुए थे। सभी में बी. एस. एफ. तैनात थी। 29 नवंबर से 9 दिसंबर के बीच तो पूरी उस्मानिया यूनीवर्सिटी पैरामिलिट्री का बेस कैम्प बनी हुई थी।

अभी हाल में जब तेलंगाना प्रजा फ्रंट ने मंचिरयाल में कक्षाएं आयोजित करायी थीं, तब पुलिस ने कक्षाएं बाधित की थीं।

जी हां, एकदम! 2004 से ही के. चंद्रशेखर राव बोल रहे हैं कि तेलंगाना प्रजा फ्रंट इन कक्षाओं के जरिए अपने एजेण्डे के मुताबिक माओवादियों की भर्ती करना चाहता है। इसलिए वे हमारा दमन कर रहे हैं और जनता को डराना चाह रहे हैं।

जनता क्या सोचती है?

सरकार की इन कार्यवाहियों को लेकर उस जनता में असंतोष पैदा होने लगा है जिसने यह सरकार चुनी थी। जहां तक 'विरसम' की बात है, हम तो बिना लगा लपेट के बोलते हैं कि हम माओवादी आंदोलन का, नक्सलबाड़ी के पदचिन्हों का, एक वैकल्पिक रास्ते का समर्थन करते हैं। जैसा कि माओ ने, जरा हल्के अंदाज में ही सही, कहा है कि क्रांति हर रोज अपना चेहरा धोने, घर साफ करने की तरह प्रतिदिन का संघर्ष है। इस राजनीति को जन-जन तक पहुंचाने के लिए जरूरी है कि पहले हम इस राजनीति को जानें। हम इसे अपने विवेक से चुनें। इस काम के लिए हमें अपने कलात्मक साधनों को और उन्नत करना होगा। साहित्य से ज्यादा से ज्यादा सीखना होगा। सबसे जरूरी है जनता से, जनता के तौर-तरीकों से सीखना। दृश्य काव्य रूपों और उससे भी ज्यादा वाचिक कला-रूपों को अपनाना, ताकि जन-जन तक यह राजनीति, यह संदेश पहुंचे। इसी उद्देश्य के लिए 'बासागुडा' नाटक लिखा गया था।

आपका अंतिम लक्ष्य क्या है?

हमारा मकसद है- एक वैकल्पिक राजनीति, वैकल्पिक संस्कृति और साथ ही वैकल्पिक मूल्यबोध द्वारा विकास के वर्तमान मॉडल को टक्कर देना।

आपने महाराष्ट्र के बुद्धिजीवी वर्ग के बारे में बताया। तेलंगाना राज्य बन जाने के बाद तेलंगाना के बुद्धिजीवियों की क्या स्थिति है?

तेलंगाना में भी वही स्थिति है। ज्यादातर बुद्धिजीवियों और लेखकों को सरकार ने या तो कोऑप्ट कर लिया है या उन्हें चुप करा दिया है। जो 'विरसम' के साथ हैं या क्रांतिकारी आंदोलन के साथ हैं, उन्हें अलग-थलग कर दिया गया है। दमन अलग से। अभी हाल में आम जन सभाओं पर कितना दमन हुआ है। आम सभाएं या रैलियां करने की हैदराबाद में इजाजत ही नहीं दी जा रही है। इस तरह के दमन की शुरूआत 1984 में हुई थी। मैंने कहा था न कि आज जो कुछ हम देख रहे हैं वह सब 1984 में शुरू हुआ था जब इंदिरा गांधी ने स्वर्णमंदिर में सेना भेजी। इंदिरा गांधी की हत्या के बाद तीन हजार सिखों की हत्या हुई। राजीव गांधी 'हिंद करेगा हिंदू राज' के नारे के साथ सत्ता में आये। 1984 में ही भोपाल गैस त्रासदी घटी। इसी दौरान 1985 में बाम्बे में, उसी बाम्बे में जहां के मिल मजदूर उपनिवेशवाद विरोधी संघर्षों के कर्णधार रह चुके थे, राजीव गांधी ने यह जुमला उछाला कि मैं देश को 21वीं सदी में ले जाऊंगा। यही वह दौर था जब एन. टी. रामाराव आंध्र प्रदेश में टाडा लेकर आये। उन्होंने धमकाया कि आटा, माटा, पाटा, बंद। उनका मतलब था कि किसी तरह के प्रदर्शन की, खासतौर से जन नाट्य मंडली के सांस्कृतिक कार्यक्रमों को, इजाजत नहीं दी जायेगी।

उन्होंने यह भी कहा कि 1985 से 1989 तक मैं किसी आम जनसभा या भाषण की इजाजत नहीं दूंगा। आंध्र प्रदेश में, विशेषतः तेलंगाना, यह वह दौर था कि जिसमें हो रहे दमन की तुलना लैटिन अमेरिका से की जा सकती है। कम से कम 75 लोग गुमशुदा हो गये। यानी इनका न तो एनकाउंटर हुआ न गिरफ्तारी दर्ज की गयी। कितने ही एनकाउंटर हुए। 16000 टाडा केस दर्ज किये गये। ऐसा पहली बार हुआ कि पीपुल्स वार ग्रुप के हाथों मारे गये पुलिस अफसरों या जमींदारों की मौत का बदला लेने के लिए एपीसीएलसी (आंध्र प्रदेश सिविल लिबर्टीज कमीटी) के या दूसरे राजनीतिक जन संगठनों के नेताओं की हत्या की गयी। 18 जनवरी 1985 को जागित्याल में आरएसएस (राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ) के गुंडों

द्वारा गोपू राजन्ना की हत्या के साथ यह सब शुरू हुआ। बाद में यादगिरि रेड्डी की हत्या के बाद बगैर वर्दी के पुलिस ने डॉ. रमानाथम की उनकी क्लिनिक में हत्या की। इसी तरह लक्ष्मारेड्डी की हत्या की गयी। सिविल लिबर्टीज कमेटी के नेताओं नरा प्रभाकर रेड्डी, पुरुषोत्तम, आजम अली की हत्या की गयी। इन्हें भी पुलिस और जमींदारों के खिलाफ पीपुल्स वार की कार्यवाही के जवाब में मारा गया था।

1990 के दशक में वारंगल की कांफ्रेंस के साथ ही एन. टी. रामाराव का दौर खत्म हो गया। 14 लाख से भी ज्यादा लोग आये इसमें...

दमन के इन पांच वर्षों के बाद वारंगल में 'रैय्यतु कुली संघम' का सम्मेलन हुआ। कुल 14 लाख लोग इसमें शामिल हुए और जमीनें बांटने का निर्णय लिया गया। जागित्याला के बाद यह भूमि पुनर्वितरण का दूसरा कदम था। इसमें तय किया गया कि भूस्वामी परिवारों के पास कोई दूसरे स्रोत न रहें (यानी जिनके पास कोई आय स्रोत न हो उन्हें जमींने दिलवाई जायें)। पार्टी की यही नीति थी भूमि हदबंदी को लेकर। लेकिन तुरत ही दमन शुरू हो गया। 1992 में पार्टी बैन कर दी गयी। यहीं पर नयी आर्थिक नीति की शुरुआत होती है, हिंदुत्व और वैश्वीकरण का आपसी खेल शुरू होता है और बाबरी मस्जिद ढहाई जाती है। वैश्वीकरण की नीति लागू करने के लिए सन 1995 में एन.टी. रामाराव और इनसे जुड़े शासक वर्ग की जगह चंद्रबाबू नायडु का आगमन होता है। सब्सिडी को खत्म कराने के लिए नायडु ने पीपुल्स वार पार्टी को बैन किया, शराब से बैन हटा लिया और ऐसे कितने ही कदम उठाये गये। एन. टी. रामाराव की तरफ से किये गये सभी चुनावी वादों से चंद्रबाबू नायडू पलट गये। 1995 से 2004 के बीच तकरीबन साढ़े नौ साल तक आंध्र प्रदेश में (और विशेषत: तेलंगाना में) बहुत खून बहा। एनकाउंटर में हत्याएं होती रहीं, गुमशुदगी के कितने ही केस हुए। इसके अलावा चंद्रबाबू ने डी.आई.जी. के अधीन आत्मसमर्पण कर चुके नक्सलियों और माफियाओं को संगठित करना शुरू किया ताकि जनांदोलनों के नेताओं को गुप्त रूप से या टाइगर, कोबरा या कुछ और नाम धारण करके खुलेआम मारा जा सके।

सन 2001 में के. चंद्रशेखर राव ने एक नयी पार्टी बनायी जिसका मकसद था संसदीय रास्ते से तेलंगाना को राज्य का दर्जा दिलाना। क्या इसने मूवमेंट को नुकसान पहुंचाया?

इस दौरान जंगलों की हजारों-लाखों एकड़ जमीनों पर पीपुल्स वार के नेतृत्व में जनता का कब्जा कायम रहा। लेकिन पुलिस कैंपों के बनाये जाने की वजह से, दमन की कार्यवाही की वजह से, ये सारी जमीनें बेकार पड़ी रहीं। तो जनता के, समाज के, हितों को ध्यान में रखते हुए, राज्य के सच्चे विकास के लिए चिंतित कुछ भले लोगों ने कंसर्न्ड सिटिजंस कमिटी (सीसीसी) बनायी जिसके संयोजक शंकरन थे। उन्होंने मांग रखी कि सरकार और क्रांतिकारी पार्टियों, खासतौर से सीपीआई (एमएल) पीपुल्स वार एवं अन्य मार्क्सवादी-लेनिनवादी पार्टियों के बीच वार्ता होनी चाहिए। 2004 के समय नक्सल मूवमेंट के साथ वार्ता एक चुनावी एजेंडा बन चुका था। तो एक चंद्रबाबू नायडू को छोड़कर बाकी सभी पार्टियों ने, कांग्रेस, बीजेपी, सी.पी.आई., सी.पी.एम., सब ने बोला कि अगर चंद्रबाबू नायडू हारते है और कांग्रेस सत्ता में आती है तो वाई एस. राजशेखर रेड्डी बिना शर्त क्रांतिकारी दलों से वार्ता करेंगे। जैसा कि चंद्रबाबू नायडू ने खुद बोला था कि तीन मुद्दों के इस रिफरेण्डम ने, यानी कि नक्सलाइटों के साथ वार्ता, विश्व बैंक प्रोग्राम और तेलंगाना के मुद्दों ने, मुझे चुनाव हरवा दिया। तो राजशेखर रेड्डी सत्ता में आये और चूंकि यह उनका चुनावी वादा था इसलिए अक्टूबर में वार्ता आयोजित करायी गयी। मांग रखी गयी कि जमीनें बांटी जायें, लोकतांत्रिक अधिकारों को बहाल किया जाये और तीसरा मुद्दा आत्मनिर्भरता का था जिस पर कोई बात नहीं की गयी। खैर, लोकतांत्रिक अधिकारों पर और भूमि सुधारों पर गहन बातचीत हुई। उस वक्त पीपुल्स वार और एमसीसी (माओइस्ट कम्युनिस्ट सेंटर) का आपस में विलय हो चुका था और पार्टी, वार्ता के लिए, माओवादी

वारांगल में मारे गए नक्सलवादी साथियों के निकट संबंधियों के बीच वरवर राव

पार्टी के रूप में सामने आयी थी। पार्टी ने कहा कि राज्य में कुल एक करोड़ बीस लाख एकड़ सरप्लस जमीनें हैं और इन्हें बांटना होगा। लेकिन असलियत में सरकार अपने वादों को लेकर गंभीर नहीं थी। जनवरी 2005 आते-आते माओवादी पार्टी के साथ बातचीत के स्थान पर उसका दमन किया जाने लगा और एनकाउंटर शुरू हो गये। राजशेखर रेड्डी के शासन में भी वैसा ही दमन हमने झेला जैसा चंद्रबाबू नायडू के शासन में झेला था। चंद्रबाबू के समय पूरा माफिया 'टाइगर्स' नाम धारण करके सक्रिय था। राजशेखर रेड्डी के समय वही माफिया 'कोबरा' नाम से काम करने लगा।

एक हेलीकॉप्टर दुर्घटना में वाई. एस. राजशेखर रेड्डी की मौत के बाद अलग तेलंगाना राज्य के लिए चल रहे आंदोलन में तेजी आई। तेलंगाना के लिए साठ साल तक चले इस न्यायसंगत लोकतांत्रिक संघर्ष के बाद जाकर 2 जून 2014 को तेलंगाना को राज्य का दर्जा मिला। तेलंगाना का यह एक वर्ष कैसा रहा?

जो तेलंगाना हमने प्राप्त किया वह लोकतांत्रिक तेलंगाना नहीं है। इसकी सत्ता एक बूर्ज्वा सरकार के हाथ में है। के. चंद्रशेखर राव ने वादा किया था कि सत्ता में आने के बाद हम माओवादी एजेंडे को लागू करेंगे, लेकिन बदले में उन्होंने दमन चक्रम चलाया। उन्होंने माओवादी पार्टी से बैन भी नहीं हटाया। इतना ही नहीं, उन्होंने रिवोल्यूशनरी डेमोक्रेटिक फ्रंट पर से भी बैन नहीं हटाया जबकि उस पर यह बैन आंध्र प्रदेश राज्य के अधीन लगाया गया था। तो जब मैं मुंबई और वर्धा में बुद्धिजीवियों पर बात कर रहा था तो तेलंगाना और आंध्र प्रदेश में आज के हालात पर भी बात कर रहा था। मैंने बोला था कि इन दोनों राज्यों में बुद्धिजीवी और लेखक लोग वैसी भूमिका नहीं निभा रहे जैसी उन्होंने तेलंगाना आंदोलन और श्रीकाकुलम् संघर्ष के दौरान निभायी थी।

अरुण फरेरा की किताब 'कलर्स ऑफ दि केज : ए प्रिजन मेमॉयर' के लोकार्पण के मौके पर आपने ऐक्टिविस्टों को हिरासत के दौरान टॉर्चर (यातना देने) और तन्हाई में कैद करने के बारे में बताया था और बताया था कि इस हद का टार्चर तो आंध्र प्रदेश में भी नहीं होता...

फरेरा की किताब पढ़ने के बाद जिस बात से मैं व्यथित हुआ वह यह है कि अब लोकतांत्रिक संघर्षों को भी टॉर्चर से रोका जा रहा है, खास तौर से फरेरा जैसे व्यक्ति को महीनों तक टार्चर किया गया, न सिर्फ मानसिक रूप से बल्कि शारीरिक रूप से भी। अरुण फरेरा और अशोक रेड्डी का नारकोटिक टेस्ट भी किया गया। इस बात ने मुझे हिलाकर कर रख दिया। ऐसा नहीं कि आंध्र प्रदेश और तेलंगाना में इस तरह का टॉर्चर नहीं होता। लेकिन यह सब ज्यादातर अंडरग्राउंड ऐक्टिविस्टों के साथ होता है, भले वे बुद्धिजीवी हों। इसी तरह एक महेश थे जिन्हें वारंगल जेल में काफी टॉर्चर किया और सिंगल (एकाकी) सेल में रखा गया।

तेलंगाना के सशस्त्र संघर्ष के दौरान पार्टी के एक लीडर थे चेरावू लक्ष्मी नरसैय्या। उन्हें बरसों तक वारंगल जेल में बांध कर रखा गया। उनके बारे में तो मुझे बहुत बाद में पता चला जब वे खम्मम जिले में म्युनिसिपैलिटी के चेयरमैन हो गये और बाद में राज्य के जाने माने लीडर हो गये। तो ऐसा नहीं है कि यातनाओं के ऐसे उदाहरण वहां नहीं है, लेकिन यह बस आंध्र प्रदेश में लोकतांत्रिक अधिकारों के लिए चल रहे संघर्षों के (विशेषत: सिविल लिबर्टीज कमीटी की अगुवाई में चल रहे संघर्षों के) प्रभाव से हो रहा है।

यूएपीए (अनलाफुल ऐक्टिविटीज प्रिवेंशन ऐक्ट) जैसे भयानक कानून के बारे में क्या कहेंगे?

महाराष्ट्र, केरल और बिहार की जेलों से ज्यादा भयानक कुछ भी नहीं। हालांकि सिविल लिबर्टीज कमीटी के आदिवासी नेता सुगुनाथम, जिन्हें यूएपीए में गिरफ्तार किया गया था, केवल एक हफ्ते में जेल से बाहर आ गये। मैंने पहले ही बताया था कि एन टी. रामाराव के समय 16000 टाडा केस हुए थे। पर फिर भी टाडा केस में ही गिरफ्तार 900 लोगों को हमारे सिविल लिबर्टीज के एक लीडर नराप्रभाकर रेड्डी ने डिस्ट्रिक्ट कोर्ट से ही जमानत दिलवा दी थी। इसी तरह बालगोपाल ने 90 आदिवासी लोगों को आदिलाबाद कोर्ट से जमानत दिला दी थी। लेकिन दूसरी ओर गणेश जैसे व्यक्ति 20 साल से जेल में पड़े हैं। फिर भी, महाराष्ट्र ओडिशा और अन्य राज्यों की बनिस्बत तेलंगाना में डेमोक्रेटिक मूवमेंट की स्थिति कुछ बेहतर है (टॉर्चर इत्यादि के मामले में)। हमारे एक दोस्त सी. वी. सुब्बाराव बोलते थे कि अगर आप अंग्रेजी बोल लेते हैं तो, कम से कम, मरने से बच जाओगे।

लेकिन मुख्यधारा का मध्यवर्गीय समाज यह सोचता है कि आखिर क्यों इतने सारे माओवादी जेलों में बंद हैं?

उन्हें गिरफ्तार किया जा रहा है, जेलों में ठूंसा जा रहा है क्योंकि वे मूवमेंट को लीड कर रहे हैं। आप देख लीजिए, माओवादी पार्टी की सेंट्रल कमीटी के लगभग 20 आदमी बरसों से जेल में पड़े हैं। यह बात समझनी होगी कि सेंट्रल कमीटी के ये 20 सदस्य जेलों में इसलिए सड़ाये जा रहे हैं क्योंकि ये लोग पूर्वी, मध्य और दक्षिणी भारत के आदिवासियों और लाखों-करोड़ों जनता के अधिकारों की लड़ाई का नेतृत्व कर रहे थे। और यह मत समझिए कि ये सिर्फ माओवादी पार्टी को डिफेंड करने के लिए कहा जा रहा है। जंगलों में जो आदिवासियों का सच्चा और खरा मूवमेंट हैं और जंगलों से बाहर किसानों और मेहनतकश वर्ग का जो मूवमेंट है, यह उसको भी डिफेंड करने की बात है। ये तो हुई एक बात। मोटा-मोटी तीन तरह के मूवमेंट आज चल रहे हैं। पहला है कश्मीर और पूर्वोत्तर का राष्ट्रीयता का, राष्ट्रीय मुक्ति का, आत्म-निर्णय के अधिकार का मूवमेंट। इन क्षेत्रों में आफ्स्पा (AFSPA) लगाया गया है और असलियत यह है कि कश्मीर और पूर्वोत्तर के राज्य आज सैन्य शासन के बल पर चल रहे हैं। इसलिए दसियों बरस से वहां AFSPA को हटाने के लिए आंदोलन चल रहा है, इसे और आगे

बढ़ाना होगा। दूसरा है माओवादिओं के नेतृत्व में चल रहा क्रांतिकारी आंदोलन। आदिवासियों और किसानों का संघर्ष इसी मूवमेंट का हिस्सा है। तीसरा डेमोक्रेटिक मूवमेंट है। नर्मदा बचाओ आंदोलन इस तरह का मूवमेंट था।

तो क्या इसीलिए राजनीतिक बंदियों की रिहाई के लिए वह कमीटी (कमीटी फॉर रिलीज आफॅ पॉलीटिकल प्रिजनर्स) यानी कि सीआरपीपी बनायी गयी थी, ताकि ऐसे आंदोलनों में लगे लोगों को बचाया जा सके?

हां, इन आंदोलनों में लगे सभी लोगों को राजनीतिक बंदी का दर्जा मिलना चाहिए। क्योंकि ये सब राजनीतिक मांगे हैं जिनके लिए ये लड़ रहे हैं, चाहे वे डेमोक्रेटिक मूवमेंट की मांगे हों या राष्ट्रीयताओं की मुक्ति की या रिवोल्यूशनरी मूवमेंट की। इन सभी आंदोलनों को पॉलीटिकल मूवमेंट के रूप में परिभाषित किया जा सकता है क्योंकि इनका लक्ष्य राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तन है। यही वजह है कि ये लोग (चाहे वे मुस्लिम हों जिन्हें इस देश में, खासतौर से हिंदुत्व के तांडव के चलते, दूसरे दर्जे का नागरिक समझा जाता है) जेलों में बंद हैं। विशेषतया सारे निवारक निरोधी अधिनियम (प्रिवेंटिव डिटेंशन) जैसे कि यूएपीए, एनएसए (राष्ट्रीय सुरक्षा अधिनियम) और सीआरपीसी के 120 से 128 तक के अनुच्छेद, इनके तहत गिरफ्तार किये गये सभी लोग दरअसल राजनीतिक कैदी होते हैं। तो ऐसी एक कमीटी की जरूरत थी जो पोलिटिकल प्रिजनर्स के मामलों को देखे। पूरे देश में ऐसे राजनीतिक कैदियों की रिहाई की मांग करने की जरूरत है। इसीलिए सीआरपीपी गठित की गयी लेकिन इसे और मजबूत बनाना होगा।

आंध्र प्रदेश में जेलों की क्या स्थिति है?

आंध्र प्रदेश और तेलंगाना की जेलें इतनी शानदार भी नहीं हैं जितनी संसदीय समिति बोलती है। सब कुछ सापेक्षिक होता है। लेकिन इसका श्रेय सरकारी नीतियों को नहीं है। ऐसा भी नहीं है कि आज सरकार में

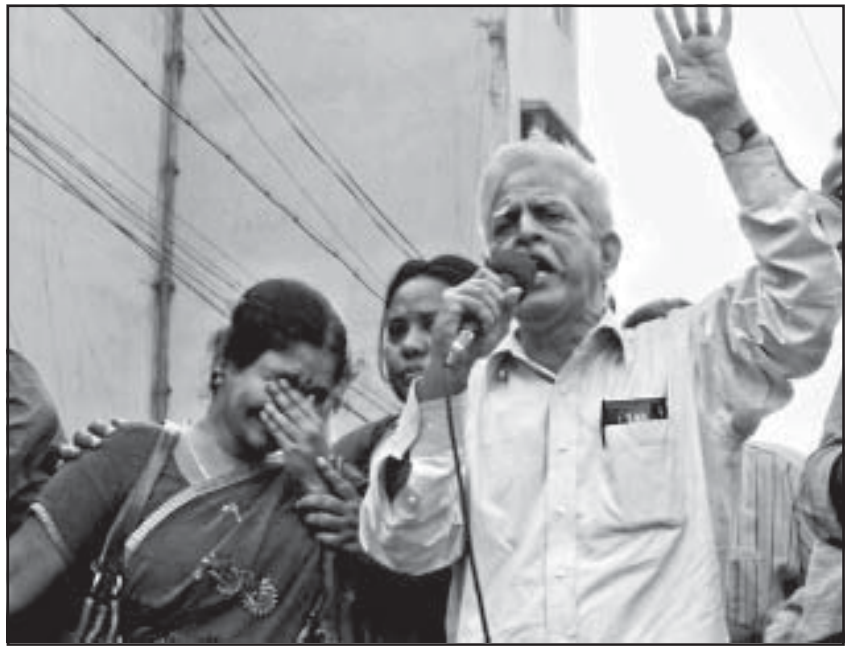

माओवादी नेता किसन जी की हत्या के बाद एपीडीआर की रैली को संबोधित करते हुए

कुछ सदाशयी और सज्जन लोग घुस गये हैं। संघर्षों का एक लंबा इतिहास रहा है जिसके कारण ऐसा संभव हो पाया है। खासतौर से कम्युनिस्ट पार्टियों के आंदोलनों के कारण, जो तेलंगाना के सशस्त्र संघर्ष से चले आ रहे हैं, क्योंकि 1940 के दौर से ही अनगिनत कम्युनिस्ट क्रांतिकारी जेलों में बंद रहे। तो यह लगातार संघर्षों की देन है। तेलंगाना सशस्त्र संघर्ष के दौरान सुंदरैय्या के नेतृत्व में जरना जेल, वारंगल जेल, हैदराबाद जेल में संघर्ष का उदाहरण है। निजाम-विरोधी, उपनिवेशवाद विरोधी संघर्षों में और बाद में नक्सलवादी मूवमेंट और पीपुल्स वार मूवमेंट के दौर में संघर्ष की मिसालें हैं। इसीलिए पिछले तीस वर्षो में तेलंगाना में, बल्कि पूरे आंध्र प्रदेश में, जेलों की कोठरियां, जेल की हालत, कुछ बेहतर हो गयी है। एक और महत्वपूर्ण संघर्ष था जिसका जिक्र होना चाहिए जो दिसंबर 1994 से मार्च 1995 के बीच चला था। पहली बार न केवल नक्सल कैदी बल्कि सामान्य कैदी भी एक साथ आये और पटेल सुधाकर रेड्डी एवं सखामूरी अप्पाराव, ये नक्सल कैदी थे, के नेतृत्व में लड़ाई लड़ी जिसे आंध्र प्रदेश में एक ऐतिहासिक संघर्ष मानते हैं। तमाम लेखकों, बुद्धिजीवियों और मध्यवर्गीय लोगों का ध्यान इस ओर गया। तो तीन महीनों तक लगातार संघर्ष चला नक्सल कैदियों के राजनीतिक अधिकारों और समग्रतः सभी कैदियों के मौलिक अधिकारों के लिए। यहां तक कि मध्यवर्ग को पहली बार पता चला कि अगर कोई व्यक्ति जेल में है तो उसे केवल स्वतंत्र विचरण के अधिकार से वंचित किया जा सकता है। बाकी सभी मौलिक अधिकार उसे रहेंगे भले वह जेल में हो। पारंपरिक रूप से पहले के हैदराबाद स्टेट में किसी उम्र कैदी को उसके अच्छे आचरण को देखते हुए छह या सात साल में छोड़ दिया जाता था। आंध्र प्रदेश के मुख्यमंत्री जे. वेंगलाराव ने 1976 में इस परंपरा का उल्लंघन किया। इसी कारण से यह संघर्ष चला और सफल भी हुआ। अब चूंकि सुप्रीम कोर्ट ने अपना नजरिया बदल लिया है इसलिए उम्र कैद का मतलब उम्र भर के लिए कैद हो गया है और माओवादी पार्टी पर प्रतिबंध लगने के बाद से राजनीतिक बंदियों के साथ घटिया बर्ताव किया जा रहा है। इसलिए आंध्र प्रदेश और तेलंगाना की जेलों में मौत की खबरें आती हैं। कुपोषण, स्वास्थ्य सेवाओं के एकदम अभाव और घटिया भोजन के कारण वे लोग खुदकुशी कर रहे हैं।

तो चंद्रबाबू नायडू से लेकर आज

प्रधानमंत्री मोदी... क्या रणनीति है आप लोगों की?

वरवर राव : माओवादी पार्टी की रणनीति तो आप जानते ही हैं। इसकी रणनीति है दीर्घकालिक सशस्त्र संघर्ष। लक्ष्य है जनता को आधार बनाकर नवजनवादी क्रांति करना। सशस्त्र संघर्ष इस संघर्ष का मुख्य रूप होगा जिसमें जनसंगठनों के नेतृत्व में विभिन्न प्रकार के जनांदोलनों की भागीदारी होगी। बुनियादी संघर्ष जमीन के लिए है। 'जमीन जोतने वाले की' एक आर्थिक संघर्ष है। जैसा कि चारु मजुमदार ने कहा था 'जोतने वालों को जमीनें दिलाना बुनियादी आर्थिक संघर्ष है। जमींदारों के पिट्ठुओं से और पुलिस और स्टेट से इन जमीनों की रक्षा करने के लिए हथियारबंद गुरिल्ला संघर्ष की जरूरत पड़ेगी। यह संघर्ष का सैन्य रूप होगा। और अंत में सत्ता पर कब्जा। जिस तरह सोवियत रूस में सारी सत्ता सोवियतों को और चीन में कम्यूनों को देकर जनता को दे दी गयी थी, उसी तरह सारी सत्ता जनता को देनी है। अगर आप दंडकारण्य में जनताना सरकार को देखेंगे तो आपको समझ में आयेगा कि यह एक राजनीतिक संघर्ष है। चारु मजुमदार इसे बड़े अच्छे से कहते हैं ''बुनियादी आर्थिक संघर्ष है जमीन; गुरिल्ला युद्ध इस संघर्ष का सैनिक रूप है और राजनीतिक रणनीति है सत्ता पर कब्जा। यही पार्टी रणनीति है।'' विरसम (विप्लवी रचयिताला संघम) जैसे जनसंगठन के लिए हम कोई रणनीति या कार्यनीति नहीं बनाते हैं। हमारी योजना एक ऐसा साहित्यिक-सांस्कृतिक आंदोलन खड़ा करने की है जो नवजनवादी क्रांति के लिए संघर्ष में मदद करे। जैसा कि माओत्से तुंग कहते हैं, हर क्रांति के लिए दो तरह की सेनाओं की जरूरत पड़ती है, एक आधारभूत सेना जो बुनियादी संघर्ष करे और दूसरी सांस्कृतिक सेना जो इसे सहारा दे। प्रेमचंद कहते हैं न ''हम तो कलम के सिपाही हैं।'' इतना ही कहूंगा मैं।

एक नयी बात देखने में आ रही है कि पारंपरिक वामपंथी और सेंट्रिस्ट पार्टियां एक दूसरे के करीब आ रही हैं...

देखिए, इस समय तथाकथित वामपंथी यानी सी.पी.आई. और सी.पी.एम. या तथाकथित वाम मोर्चा अपनी सत्ता गंवा चुका है। तो ये लोग मार्क्सवादी लेनिनवादी पार्टियों की तरफ भी दोस्ती का हाथ बढ़ाने की कोशिश कर रहे हैं। अभी तो स्थिति यह है कि वे नहीं कह रहे कि हम सेंट्रिस्ट पार्टियों से हाथ मिलायेंगे। और सच तो यह है कि आज कोई पार्टी सेंट्रिस्ट नहीं है। आप क्षेत्रीय पार्टियों को ले लीजिए जिनको सेंट्रिस्ट पार्टियां कहा जा सकता है, क्योंकि ये पार्टियां दक्षिणपंथी पार्टियों की तरह सांप्रदायिक नहीं कही जा सकती हैं। लेकिन आज ये सभी पार्टियां बीजेपी के पाले में हैं। पंजाब का अकाली दल, असम में असम गण परिषद, तमिलनाडु में अन्नाद्रमुक और आंध्र प्रदेश में चंद्रबाबू नायडू की तेलुगु देशम पार्टी सब की यही स्थिति है। ये पार्टियां या तो एन.डी.ए.में शामिल हैं या फिर उसे समर्थन दे रही हैं। यहां तक कि तेलंगाना राष्ट्र समिति ने भी, जो कि एनडीए का हिस्सा नहीं है, लोक सभा में जमीन हड़पने वाले विधेयक का समर्थन किया था। वे लोग भले ही उसे भूमि अधिग्रहण विधेयक बोलते हों, लेकिन मैं उसे जमीन हड़पने का विधेयक बोलता हूं। तो इस सबका मतलब यह है कि कोई पार्टी सेंट्रिस्ट नहीं है। आज भले ही सी.पी.आई., सी.पी.एम. और अन्य वामपंथी पार्टियां कह रही हों कि हम वर्ल्ड बैंक प्रोग्राम के या वैश्वीकरण के खिलाफ हैं लेकिन जब वे सत्ता में रहे, विशेषत: प. बंगाल और केरल में, तब उन्होंने भी वर्ल्ड बैंक प्रोग्राम के हिसाब से काम किया था। मतलब यह कि कोई भी संसदीय पार्टी जब-जब सत्ता में आयी है, उसने वर्ल्ड बैंक प्रोग्राम की चाकरी की है और वैश्वीकरण की नीति लागू करने की भरसक कोशिश की है। इसकी सबसे बढ़िया मिसाल, आप वाम मोर्चे के लिए सबसे घटिया मिसाल कह सकते हैं, नंदीग्राम आंदोलन, सिंगूर आंदोलन या जंगलमहल आंदोलन के रूप में प. बंगाल में देखने को मिली। उसके हाथ से सत्ता निकलने का तात्कालिक कारण था वैश्वीकरण की नीति लागू करना। तृणमूल कांग्रेस उस वक्त इसका विरोध कर रही थी इसलिए सत्ता उसे मिल गयी। आज सरकार में आकर तृणमूल भी वही प्रोग्राम लागू करा रही है। तो बेशक हम लोग मोदी के इस युग में सांप्रदायिकता और हिंदुत्व के खिलाफ साथ मिलकर कोई प्रोग्राम ले सकते हैं। गुजरात नरसंहार के दौरान हमने सी.पी.आई. और सी.पी.एम. के साहित्यिक संगठनों तथा जनसंगठनों के साथ काम किया था। आज भी, हम साथ काम कर रहे हैं। जैसे कि जमीन के सवाल पर हम साथ काम कर रहे हैं। लेकिन संसदीय तौर-तरीकों को अपनाते हुए जब वे लोग सत्ता में आयेंगे तब वे वर्ल्ड बैंक के रास्ते पर नहीं चलेंगे, ये मैं विश्वास के साथ नहीं कह सकता। तो जब तक यह तथाकथित वामपंथ संसदीय रास्तों से अपने कदम नहीं हटाता, मुझे नहीं लगता कि उनसे किसी तरह की एकता कायम हो सकती है।

पारंपरिक वामपंथ क्यों इतना कंफ्यूज्ड है?

सवाल कंफ्यूजन का नहीं है। सवाल है कि क्या आप चुनाव के रास्ते सत्ता में आना चाहते हैं? जब तक कोई पार्टी इस फ्रेमवर्क में काम करती रहेगी तब तक 'कंफ्यूज्ड' रहेगी। अगर वे समझते हैं कि असली सत्ता चुनाव से, वोटों से आती है, तो यह उनका भ्रम है। जब तक कोई पार्टी या कोई संगठन या जनांदोलन केवल चुनाव के फ्रेमवर्क में सोचेगा, तब तक यह भ्रम बना रहेगा। तो आपको जनता के संघर्षों में उतरकर साम्राज्यवाद और सामंतवाद से लड़ना है या नहीं, यह तय करना पड़ेगा। इस देश की अर्द्धसामंती, अर्द्ध औपनिवेशिक, कॉम्प्रडोर (दलाल) व्यवस्था से अगर लड़ना है तो हमें अपने मन में बिल्कुल स्पष्ट रहना होगा। और चूंकि यह व्यवस्था स्टेट मशीनरी के माध्यम से अभिव्यक्त होती है, इसलिए आपको यह तय करना पड़ेगा कि आपको इस स्टेट के खिलाफ जी जान से लड़ना है या नहीं लड़ना है। नहीं तो तब तक जिसे आप कंफ्यूजन कह रहे हैं, वह कंफ्यूजन बना रहेगा।

महाराष्ट्र से लेकर गुजरात, उत्तर

प्रदेश, केरल, मैं जहां भी घूमा, मैंने देखा कि स्थानीय स्तर पर आरएसएस ने पिछले दो साल के भीतर पैसे के बल पर और धर्म की आड़ में हजारों शाखाएं और संगठन स्थापित कर लिये हैं। लेकिन इसके प्रति कोई प्रतिक्रिया नहीं दिखायी दे रही। जनांदोलन आरएसएस के ऐसे तौर-तरीकों का जवाब कैसे देंगे?

आपको मालूम होगा कि 2014 के आम चुनाव के समय बीजेपी की मदद के लिए आरएसएस ने हजारों कार्यकर्ता उपलब्ध कराये थे। यानि उन्हें आरएसएस से छुट्टी देकर बीजेपी में भेज दिया। आज देखिए राम माधव और मुरलीधर जैसे आदमी पूरी तरह से बीजेपी के बन चुके हैं। यहां तक कि अमित शाह को बीजेपी का अध्यक्ष बना दिया गया है। ऐसा नहीं है कि ये सब आज हो रहा है। 1940 के दौर से ही आरएसएस इसी तरीके से काम करता आया है। आरएसएस बहुत लचीला होकर यह काम करता है। मैंने इमरजेंसी के दौरान देखा था। आदिलाबाद का कांग्रेस पार्टी का जिलाध्यक्ष हमारे साथ जेल में बंद था। तो हमने पूछा उससे कि तुम तो कांग्रेसी हो, तुम्हें कैसे जेल हो गयी? उसने बताया कि 'मैं दरअसल आरएसएस का आदमी हूं और कांग्रेस में घुस कर आरएसएस का ही काम कर रहा था। सरकार यह बात जान गयी। इसलिए मुझे जेल में डाल दिया।' तो आरएसएस ऐसे तरीके अपनाता रहता है। जब आरएसएस को बैन किया गया था, तो उसने अपना नाम बदलकर राम सेवक संघ रख लिया। चूंकि आरएसएस के पास कोई दर्शन नहीं है सिवाय हिंदुत्व के और हिंदुत्व दर्शन है हिंसा का और वर्चस्ववादी विचारधारा का, इसलिए आरएसएस जब मन चाहे लचीला हो सकता है। जबकि जनता का मूवमेंट, खासतौर से रिवोल्यूशनरी मूवमेंट कुछ निश्चित सिद्धांतों पर चलता है और इसलिए हम उतने लचीले नहीं हो सकते। लेकिन हमें संघर्ष के लिए कुछ नये तौर-तरीके तो ईजाद करने ही होंगे। आज हमारे पास मौका है कि सभी गैर-हिंदुत्व शक्तियों का एक बड़ा संयुक्त मोर्चा बनाया जाये। दलितों, आदिवासियों, मुसलमानों, स्त्रियों और गैर-ब्राह्मणवादी वर्गों को संगठित करने के लिए हमें बहुत व्यवहार कुशल और कलात्मक बनना होगा। इन लोगों का एक मोर्चा बनाना होगा। ऐसा एक प्रयास मुम्बई रेजिस्टेन्स-2004 के नाम से शुरू किया गया था, जिसमें हमने 300 से 400 संगठनों को जोड़ा था। लेकिन वैसा प्रयास बाद में नहीं हो पाया। **अनुः आशीष वर्मा, बीएचयू**

(यह इंटरव्यू रामू रमानाथन ने लिया था जो जाने माने नाटककार और ऐक्टिविस्ट हैं। 26 सितम्बर 2014 को प्रेस क्लब, मुम्बई में अरुण फरेरा की किताब 'कलर्स ऑफ दि केज' के लोकार्पण के मौके पर थोड़ी-सी बातचीत के साथ यह इंटरव्यू शुरू हुआ था। उसके बाद ई-मेल पर लंबा संवाद हुआ। अंततः उसी संवाद को एक तरतीब में प्रश्नोत्तर के रूप में ढाला गया।)

कॉमरेड रजुली देवी को लाल सलाम

डा. दूधनाथ की पत्नी और हमराही साथी रजुली देवी का 28/7/16 को हृदयघात से देहांत हो गया। रजुली देवी ग्राम मर्यादपुर (अजोरपुर टोला), जनपद मऊ में सपरिवार रहती थीं और सामाजिक काम के लिए जानी जाती थीं। अगले दिन (29/7/16) 2:30 बजे बिना किसी पाखंड के बेहद सादे तरीके से अंत्येष्टि क्रिया संपन्न की गई और लाल सलाम के नारों के साथ उनको अंतिम विदाई दी गई। अंत्येष्टि क्रिया में शामिल मर्यादपुर गांव सहित दूर-दराज से आए उनके जानने वालों ने एक नई परंपरा का सूत्रपात किया और संकल्प लिया कि आगे से हम लोग पूरे सम्मान और मानवीय गरिमा के साथ अंतिम विदाई देंगे। समस्त शोकाकुल जन ने तय किया कि दिवंगत साथी के सम्मान में 7 अगस्त को उनके आवास पर दिन में 11 बजे श्रद्धांजलि सभा का आयोजन किया जायेगा। श्रद्धांजलि सभा में साथी रजुली देवी को याद करते हुए साथी हरेंद्र यादव ने कहा कि गांव के कोटा, पट्टा

आदि की लड़ाई से लेकर स्कूल तक हर जगह वह साहस के साथ आगे रहीं। लेकिन दुःख की बात है कि ऐसे साहसी साथी को जीवन के उत्तरार्द्ध में मुकदमे का सामना करना पड़ा। अपनी थोड़ी से जमीन पर हुए बेवजह के मुकदमे से वे बहुत आहत थीं। संदीप राउजी ने कहा कि वे हमेशा वैज्ञानिक विचारों के साथ और पाखंडों के विरोध में खड़ी रहीं। अपनी सहज बुद्धि से समझ जाती थीं कि कौन समाज का दोस्त है और कौन दुश्मन। आज पूरे देश में ब्राह्मणवाद के खिलाफ जो दलित आंदोलन उठ खड़ा हुआ है, रजुली देवी हमेशा उसके समर्थन में रहीं। उत्तराखंड से आये साथी मुकुल ने कहा कि अपने जीवन में उन्होंने बच्चों के लिए निःशुल्क स्कूल खोलने में नारी सभा का नेतृत्व किया। उनका सबसे बड़ा योगदान शराब बंदी का अभियान है, जिसके लिए इलाके की औरतें किसान नेता के तौर पर हमेशा याद करेंगी। मंच का संचालन करते हुए बाबूराम शर्मा ने अंत में अपनी बात में साम्राज्यवादी लूट और भारतीय किसानों की दुर्दशा पर विस्तृत बात रखी।

इस अवसर पर कासीनाथ यादव, बिरजू ओमप्रकाश, समीक्षा, गौरीशंकर आचार्य तथा नारी सभा ने सांस्कृतिक कार्यक्रम प्रस्तुत किया। सभा में सुरेश यादव, जनार्दन, डॉ संध्या पांडेय, आजम अनवर, रामअवध भंते, वामसेफ के राजेश शर्मा आदि वक्ताओं ने अपनी बात रखी। ❐

काव्य-संवेदना का विस्तार करती कहानियां

कौशल किशोर

स्वप्निल श्रीवास्तव ऐसे कवि हैं जिन्होंने कविता के साथ कहानियां भी लिखी हैं। 'एक पवित्र नगर की दास्तान' उनकी कहानियों का पहला संग्रह है। इसमें अठारह कहानियां संकलित हैं। अपने कथा लेखन के बारे में स्वप्निल कहते हैं कि जीवन के अनुभवों को अभिव्यक्त करने के लिए कविताएं ही काफी नहीं हैं। इसलिए जो कुछ कविताओं में कहने से रह गया, उसके लिए कहानियां अच्छा माध्यम है। इन्हें पढ़ते हुए कविता का आस्वादन होता है। ये आकार में जितनी छोटी हैं, संवेदनात्मक धरातल पर उतनी ही बड़ी हैं। हम रोज-ब-रोज या कहिए अक्सरहां जीवन के छोटे-छोटे अनुभवों से गुजरते हैं, समस्याओं का सामना करते हैं और स्थितियों-परिस्थितियों से टकराते हैं, इनका हमारे मन-मस्तिष्क पर असर होता है। ये संवेदित करती हैं। देखने में सामान्य सी लगती हैं परंतु इनमें जीवन के बड़े व गहरे तत्व होते हैं। स्वप्निल की कहानियों की ये ही विषय-वस्तु हैं। संग्रह की आधी कहानियां अतीत के किसी ऐसे ही प्रसंग या घटना पर आधारित हैं जिनमें मीठी लेकिन दुर्लभ यादें हैं। ये अतीत की स्मृतियों को खंगालती हैं। उन्हें जीवित रखती हैं क्योंकि इनमें अपना इतिहास होता है जो वर्तमान का कारण है। साथ ही इनमें बदलते हुए समय की आहट है।

'मां का पनडब्बा' की मां तो नहीं रही लेकिन पनडब्बा का होना उनके होने की तरह है जो अपने समय की कहानी कहता है। कहानी इस बदलाव को भी रेखांकित करती है कि कैसे बाजार ने मनुष्य की जरूरतों पर कब्जा कर लिया है जिसमें 'पनडब्बा' जैसी चीजें विलुप्त हो गयीं। इसी तरह 'मरकहवा' उन दिनों की कहानी है जब खेतों की जुताई बैलों से होती थी और दरवाजे पर बैल का होना शान समझा जाता था। किसान के लिए बैल उसके बेटे से कम नहीं था। 'दादा बैल को

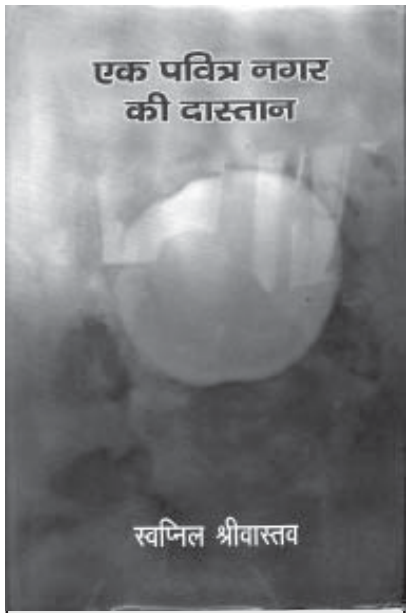

एक पवित्र नगर की दास्तान
स्वप्निल श्रीवास्तव
पृष्ठ सं. : 151,
मूल्यः रु. 350/-
संभावना प्रकाशन
64, रेवती कुंज, रेलवे रोड,
हापुड़-245101

बैल नहीं सहोदर समझते थे' जानवरों के प्रति ऐसी संवेदनशीलता थी। इसी तरह 'चीटियां' कहानी उन अच्छी आदतों को सामने लाती है जिसमें मनुष्य सिर्फ अपने बारे में नहीं सोचता बल्कि उन जीव-जन्तुओं के बारे में भी सोचता है जिनका जीवन हमसे जुड़ा है। 'ताहिर अली की रामलीला' ऐसी रामलीला है जिसमें ताहिर अली सीता का रोल करते हैं और सबके दिल में अपनी जगह बनाते हैं। यहां धर्म कोई बाधा नहीं। कहानी हमारी मिली-जुली संस्कृति को सामने लाती है।

स्वप्निल श्रीवास्तव की कहानी की चिंता अतीत के उन मूल्यों को बचाने की है जो उदार व मानवीय हैं और जो विलुप्त हो रहे हैं। वहीं, वे रूढ़ियों पर निर्ममता से प्रहार भी करते हैं। 'कुलगुरु का आगमन' ऐसी ही कहानी है। समाज में जिस तरह 'कुलगुरु' के नाम पर रूढ़ियों को प्रतिष्ठित किया जाता है, धार्मिक अनुष्ठानों के द्वारा अवैज्ञानिकता व अतार्किकता का पक्षपोषण हो रहा है और यह प्रवृत्ति बढ़ रही है, संस्था का रूप ले रही है, कहानी इस वास्तविकता को सामने लाती है और पाठकों को संदेश देती है कि ये रूढ़ियां सामंती अवशेष है जो हाथी की लीद की तरह है जो घर व दरवाजे पर ही गंदगी नहीं फैला रही है बल्कि यह पूरे समाज को प्रदूषित कर रही है। ऐसे में इनका तिरस्कार व तर्क और विज्ञान के आधार को प्रबल करने की जरूरत है। इस तरह स्वप्निल के दृष्टिकोण में अतीत न संपूर्ण आलोच्य व त्याज्य है और न सारा ग्रहण योग्य।

स्वप्निल अपनी कहानियों के माध्यम से वर्तमान समाज और जीवन की समस्याओं के साथ इस सच्चाई से भी रूबरू कराते हैं कि व्यवस्था व नौकरशाही में आम आदमी किस तरह पिस रहा है। संग्रह की पहली कहानी है 'एक पवित्र नगर की दास्तान'। यह ऐसे धार्मिक नगर की कहानी है जिसके बारे में मान्यता है कि ईश्वर यहां पैदा हुआ। इस पवित्र नगर की विशेषता है कि यहां भोले-भाले लोग आते और उन लोगों का चारा बन जाते जो धर्म का धांधा चलाते, पाखंड करते। इस नगर की किसी को चिंता नहीं। इसकी वजह से नगर दुर्दशा का शिकार है। एक बड़ा अधिकारी आता है। वह इसे साफ करने का भगीरथ प्रयत्न करता है पर यह प्रयत्न व्यवस्था का शिकार हो जाता है तथा अधिकारी भी समर्पण कर देता है। यही 'पवित्र नगर' की सच्चाई है, प्रकारांतर से इस व्यवस्था की सच्चाई जो दिखती है, वह सच नहीं होती। कहानी इस संदेश के साथ समाप्त होती है

'अक्सर बड़े अभियानों की परिणति बुरे नतीजों में होती है'। आकर्षक नारे और बड़ी योजनाएं भ्रम पैदा करने और आम लोगों को ठगने का मात्र जरिया है।

'एक स्त्री का जीवन' किसी एक स्त्री का नहीं बल्कि उन स्त्रियों का जीवन है जो आगे बढ़ने की इच्छाएं संजोए, अपने लिए रास्ता बनाती हैं। अकेलापन उनके लिए असुरक्षा का पर्याय है। उन्हें कई समझौते-समर्पण करने पड़ते हैं। समाज ऐसा है जहां भेड़िये अपने पंजे में दबोचने को बैठे हैं। कहानी स्त्री विरोध ी समय और समाज के साथ स्त्री-जीवन के संघर्ष को उजागर करती है। इसके साथ ही स्त्री व पुरुष के उस स्वाभाविक रिश्ते को रेखांकित करती है जो सम्मान और बराबरी का हो सकता है।

'कंधों पर तोता' और 'अमरूद का पेड़ और सुग्गे' में कविता-सा प्रवाह है। इनका आरंभ अत्यंत काव्यमय है तो अंत उतना ही संवेदित करने वाला। उदारीकरण के इस दौर में घर कैसे विलुप्त हो रहा है, उसकी जगह भवन, इमारतें और कोठियां ले रही हैं और घर के खत्म होने से हमारे जीवन का क्या-क्या उजड़ रहा है, इस पीड़ा को कहानी पूरे आवेग से व्यक्त करती है। घर की आंगन में लगे अमरूद के इस पेड़ पर फल-फूल क्या आते, भौरों का गुनगुनाना, तितलियों, पंक्षियों व सुग्गों का झुण्ड में आना और उनकी चहचहाहट से घर आंगन का गुलजार हो जाना। इन सबसे मिलकर बनता है घर। इसीलिए तो आंगन से अमरूद के पेड़ का कटना सिर्फ एक पेड़ का कटना नहीं है, यह उस घर का उजड़ना है जिसमें मधुर स्मृतियां हैं, बच्चों के झूले हैं, बहुतों का जीवन है।

उदारीकरण के इस दौर में न सिर्फ चीजें बदल रहीं बल्कि उनके मायने भी, आदमी के जीने व रहने के तौर-तरीके ही नहीं उसके सोच व विचार भी बदल रहे हैं। इस तरह स्वप्निल की कहानियां गहरी संवेदना से भरी हैं और इन्हें पढ़ते हुए यही लगता है कि इनमें उनकी कविताओं का ही विस्तार हो रहा है।

(पृष्ठ 12 का शेष)

स्कूल व हॉस्टल खुलवाए थे। उनकी 1939 में हुई मौत और 1931 में बाबासाहब आंबेडकर के अहमदाबाद आगमन के बाद से यहां आंबेडकरवादी विचारधारा का जो काम चालू हुआ, वह आज तक जमीनी स्तर पर चालू है जिसका प्रतिफल दलितों के घर में लगी बाबासाहब की तस्वीरों के रूप में दिखता है।

जिग्नेश मेवाणी की तरह गुजरात का सुधारवादी दलित आंदोलन भी खुद को अराजनीतिक कहता है लेकिन दोनों की रणनीतियों में भारी फर्क है। ब्राह्मणवादी वर्णक्रम के संदर्भ में देखें तो परंपरागत आंदोलन यथास्थितिवादी लग सकता है जबकि ताजा उभार ज्यादा क्रांतिकारी जान पड़ सकता है। दलितों में सुधार का काम करने वाले बौद्ध संघ और दलित पैंथर्स जैसे संगठनों के रिश्ते अलग-अलग राजनीतिक दलों के साथ दिख सकते हैं जिनमें भारतीय जनता पार्टी भी है। मसलन, गुजरात के दलितों के बीच सामाजिक सुधार की जो प्रमुख धारा करीब सौ साल से मौजूद रही है, वह आज की तारीख में राष्ट्रवादी राजनीति के रूप में खुद को अभिव्यक्त करती है। सौराष्ट्र के दलितों के जो धर्मगुरु हैं, उनका नाम है शंभुनाथ बापू। वे राज्यसभा में बीजेपी से सांसद हैं, लेकिन पाकिस्तान के सिंध में भी उनके करीब दो लाख अनुयायी रहते हैं। जाति से वे खुद दलित हैं और दलितों की जमकर हिमायत करते हैं, लेकिन अपनी पार्टी लाइन के खिलाफ कभी नहीं जाते। बीती 21 जुलाई को राज्यसभा में शंभुनाथ बापू ने 11 जुलाई की घटना पर करीब 18 मिनट का जोरदार भाषण दिया, लेकिन उनका सारा सामाजिक न्याय बीजेपी की सत्ता की पुष्टि करने में खाक हो गया। सौराष्ट्र में भी काठियावाड़ के जो दलित हैं, उनमें अस्सी फीसदी जैसलमेर के रामदेवरा धाम के भक्त हैं। रामदेव स्वामी जाति से क्षत्रिय थे, लेकिन दलितों को इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। गुजरात में रामदेव स्वामी के दो मंदिर हैं। जामनगर से भावनगर तक के दलित वहां हर साल मंडप नामक त्योहार में जाते हैं और अलग-अलग जातियों के साथ मिलकर पूजा-अर्चना करते हैं। ये दलित मूल में राजस्थान के मेघवाल हैं और गुजरात में अलग-अलग उपनाम लगाते हैं। इसके अलावा सवैयानाथ से लेकर जालाराम तक तमाम ऐसे संत हुए जिनकी भक्ति दलित करते हैं, बिना यह देखे कि कौन सा संत किस जाति का था। संतों की आराधना की परंपरा में दलितों के साथ भेदभाव यहां बरसों पहले मिट चुका है।

इसके ठीक उलट जिग्नेश के नेतृत्व में ताजा उभार अपनी संरचना में काफी आधुनिक दिखता है। इसमें जवाहरलाल नेहरू विश्व विद्यालय से ले कर दिल्ली यूनीवर्सिटी और टाटा इंस्टीट्यूट तक के परिवर्तनकामी छात्र संगठन शामिल हैं। इसमें एनसीडीएचआर से लेकर जन संस्कृति समेत दर्जन भर एनजीओ शामिल हैं- वे भी जो दलितों के मसले पर काम नहीं करते। इसमें हैदराबाद विश्वविद्यालय के छात्र शामिल हैं और रोहित वेमुला की मां समेत कन्हैया कुमार जैसे ताजा चेहरे रैली के मंच पर मौजूद रहे। इसके समर्थकों में वामपंथी दल हैं, मानवाधिकार संगठन हैं, नागरिक स्वतंत्रता समूह हैं और अंबेडकरवादी-फुलेवादी संगठन शामिल हैं। यहां तक कि बामसेफ के कुछ धड़े भी इस उभार के साथ हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि खुद जिग्नेश मेवाणी 20 अगस्त तक आम आदमी पार्टी से ताल्लुक रखते थे। इस संबंध में लगातार सवाल उठने के चलते रैली के बाद दिल्ली के प्रेस क्लब आकर उन्होंने पार्टी से इस्तीफे का एलान किया।

कुल मिलाकर देखें तो दलित अस्मिता यात्रा में शामिल तमाम चेहरे शहरी उदार वाम तबके से ताल्लुक रखते हैं जिनका जरूरी नहीं कि दलित राजनीति से कोई सीधा लेना-देना हो, सिवाय इसके कि वे सब के सब भाजपा और आरएसएस के विरोधी हैं। शायद यही वजह है कि अमरेली के दलित युवक हितेश भाई इस उभार पर सटीक टिप्पणी करते हैं, ''ये लोग दलित मुक्ति के नाम पर भाजपा को चुनाव में हराने का प्रोजेक्ट चला रहे हैं। कांग्रेस को इसमें बहुत मजा आ रहा होगा।'' एकबारगी मान भी लें कि इस समूची कवायद का उद्देश्य भारतीय जनता पार्टी को चुनावी शिकस्त देना है, तो सवाल उठता है कि यह आंदोलन (या आंदोलन के चेहरे) दलीय राजनीति में किसके साथ खड़ा होगा? क्या इसकी एक स्वतंत्र पहचान होगी? क्या यह घूम-फिर कर एक बार फिर आम आदमी पार्टी वाले मॉडल का दुहराव है, जिसकी चर्चा हमने शुरू में की थी?

पुराना कांग्रेसी फॉर्मूला?: ऊना रैली की

बात करते ही वहां की सड़क पर चलने वाला कोई भी सामान्य, शख्स उसे चुनाव से जोड़ देता है, यह इस ताजा उभार की सबसे बड़ी विडंबना है। दलित-मुस्लिम एकता की बात कीजिए, तो दीव में टैक्सी चलाने वाले इस्माइल भाई कहते हैं, ''यहां दलित भी बीजेपी को वोट देते हैं और कुछ मुसलमान भी बीजेपी को वोट देते हैं। मोदी ने काम तो कराया है, लेकिन दिक्कत ये है कि मुसलमानों को हमेशा यहां बलि का बकरा बनाया जाता रहा है। जहां तक दलितों का सवाल है, वे तो पटेलों में जाकर घुस गए हैं। पटेल यहां काफी मजबूत हैं। इस बार पटेल और दलित मिलकर भाजपा को चुनाव में हरा देंगे।'' ऊना के टैक्सी मालिक मयूरभाई इस बारे में कहीं ज्यादा स्पष्ट हैं, ''वैसे तो हमारे यहां छुआछूत जैसी चीजें नहीं हैं। दलितों के साथ हर किस्म के सामाजिक रिश्ते हैं, लेकिन जब मुसलमान की बात आती है तो दलित हिंदू बन जाता है।''

ऐसी बातें अधिकतर लोगों के मुंह से सुनने को मिलीं, जिससे पता लगता है कि दलित-मुस्लिम का कोई स्वाभाविक या रणनीतिक गठजोड़ यहां बनना मुश्किल है। अगर उसे बनाया जा रहा है और उसका नारा दिया जा रहा है, तो यह पुरानी कांग्रेसी राजनीति की विरासत है। सौराष्ट्र के दलित इतिहासकार ज्योतिकर इस परिघटना को माधवसिंह सोलंकी के ज़माने के 'खाम' फॉर्मूले का नया संस्करण बताते हैं। 'खाम' अंग्रेजी के चार अक्षरों का मेल है जिसका मतलब है क्षत्रिय, हरिजन, आदिवासी और मुसलमान। इसका इतिहास जानना आज की राजनीति को समझने के लिए जरूरी है।

1947 के बाद कांग्रेस जब गुजरात की सत्ता में आई, उस वक्त गुजरात बॉम्बे का हिस्सा, था और कांग्रेस में पटेल वर्चस्व में थे क्योंकि पार्टी के साथ उनका पुराना रिश्ता था। गुजरात जब 1960 में अलग राज्य बना, तो उस पर कुछ अभिजात्य ब्राह्मणों और बनियों का राज हो गया। पटेल इससे काफी हताश हुए। भूमि सुधार के विरोध के चलते मध्य गुजरात के संपन्न पटेल किसानों और सौराष्ट्र के राजपूतों ने मिलकर 1959 में स्वतंत्र पार्टी बना ली। 1962 और 1967 के विधानसभा चुनाव में इस पार्टी को क्षत्रिय सभा का समर्थन मिला। 1962 के चुनाव में स्वतंत्र पार्टी ने 'पक्ष' नाम का एक गठजोड़ बनाया जिसका मतलब था पटेल और क्षत्रिय। इस चुनाव में यह समूह बहुमत से थोड़ा कम रह गया। 1969 में कांग्रेस पार्टी कांग्रेस (ओ) और कांग्रेस (आइ) में बंट गई। मोरारजी देसाई के हाथ में कांग्रेस (ओ) की कमान आई। पटेलों ने सत्ता के चक्कर में उनका समर्थन कर दिया, लेकिन 1972 के चुनाव में कांग्रेस (आइ) ने 168 में से 139 सीटें जीत लीं और कांग्रेस (ओ) को केवल 16 सीटें मिल पाईं, जिसके चलते इंदिरा गांधी गुजरात में मजबूत होकर उभरीं। इस साल एक ब्राह्मण घनश्याम ओझा को मुख्यमंत्री बनाया गया और पटेल एक बार फिर दरकिनार हो गए। ओझा सरकार ने गरीब समर्थक कई कदम उठाए। इससे ग्रामीण और शहरी संपन्न तबके को दिक्कत होने लगी। आखिरकार ओझा सरकार अपनी गरीब विरोधी नीति के कारण अलोकप्रिय हो गई और 18 जुलाई 1973 को चिमनभाई पटेल उनका विरोध करते हुए मुख्यमंत्री बन गए। वे पहले पटेल मुख्य मंत्री थे, लेकिन राज चलाना उनके लिए आसान नहीं था क्योंकि सूखे के कारण 1973 में राज्य में अनाज की कमी हो गई थी। गुजरात को एक लाख टन अनाज चाहिए था लेकिन केंद्र ने केवल 15000 टन दिया। इस मजबूरी में पटेल ने लेवी कानून को कठोरता से लागू कर दिया जिसका सीधा नुकसान पटेल किसानों को हुआ जो उससे पहले अनाजों की कालाबाजारी कर के मुनाफा कमा रहे थे। नतीजतन, अनाज और तेल की कीमत आसमान छूने लगी।

महंगाई का सीधा असर छात्रों पर पड़ा और उन्हों ने अच्युत याग्निक व मनीषी जानी के नेतृत्व में आंदोलन खड़ा कर दिया। छात्रों ने मिलकर एक नवनिर्माण समिति का गठन किया और 10 जनवरी 1974 को महंगाई और भ्रष्टाचार के विरोध में राज्यव्यापी बंद का आवाहन किया। चिमनभाई पटेल को आखिरकार इस्तीफा देना पड़ा और इसका सीधा असर 1975 के विधानसभा चुनाव पर पड़ा जिसमें कांग्रेस (आइ) को महज 75 सीटें मिलीं जबकि कांग्रेस (ओ) 16 से 56 पर पहुंच गई और जनसंघ 3 से 18 सीटों पर आ गया। इस नुकसान के चलते कांग्रेस (आइ) ने 1975 में फैसला किया कि वह समाज के वंचित और शोषित तबकों पर अपना ध्यान केंद्रित करेगी। ये तबके थे क्षत्रिय, हरिजन, आदिवासी और मुसलमान यानी 'खाम'। 1980 के चुनाव में कांग्रेस (आइ) ने इन्हीं जातियों के लोगों को टिकट दिए और पार्टी में विभिन्न पदों पर बैठाया। नतीजा हुआ कि पार्टी 182 में से 140 सीट जीत गई। मुख्यमंत्री बने 'अर्ध-क्षत्रिय' माधवसिंह सोलंकी जबकि तीन पटेलों के मुकाबले पांच क्षत्रियों को कैबिनेट में जगह मिली। राजनीति में पटेलों को इस तरह बहुत नुकसान उठाना पड़ा और 1980 में बक्षी आयोग की सिफारिशों के बाद एसईबीसी (सामाजिक और शैक्षणिक रूप से पिछड़ी जातियों) के लिए लागू आरक्षण नीति ने उनके घावों को और गहरा कर डाला। दूसरी ओर, पटेलों के बरअक्स गुजरात की चुनावी राजनीति में दलितों की अहमियत बढ़ गई, ये बात अलग है कि उनकी सामाजिक हैसियत अब भी उससे मेल नहीं खाती थी।

कांग्रेस का 'खाम' प्रयोग नब्बे का दशक आते-आते अगर विफल हो गया तो उसके पीछे राष्ट्रीय स्तर पर दक्षिणपंथी राजनीति के उभार का भी हाथ है, जिसका नेतृत्व भाजपा के हाथ में आ चुका था। यह बात अलग है कि जब-जब कांग्रेस संकट में घिरी है, इतिहास गवाह है कि उसने वंचित समुदायों का एक गठजोड़ बनाने की कोशिश की है और उसे इसका लाभ भी मिला है। इस आईने में यदि हम ताजा दलित उभार में दिए जा रहे दलित-मुस्लिम नारे के साथ हार्दिक पटेल के आरक्षण संबंधी आंदोलन को जोड़कर देखें, तो इस्माइल भाई की यह बात नाजायज नहीं लगती कि ''दलित पटेलों में जाकर घुस गया है।'' बहुत संभव है कि 'खाम' के क्षत्रिय की जगह अगर पटेल को रख दिया जाए, तो 2017 की चुनावी तस्वीर पलट सकती है। पाटीदार समुदाय के वोट बीजेपी के कुल वोटों का पांचवां हिस्सा हैं यानी दस फीसदी। अगले चुनाव में यह निर्णायक हो सकता है क्योंकि ये वोट भाजपा और कांग्रेस के बीच वोटों के ऐतिहासिक अंतर के बराबर हैं जो 73 सीटों पर नतीजों को प्रभावित कर सकते हैं (स्रोत: गुजरात इलेक्टोरल कैलकुलस, 2012)। ध्यान रहे कि 2012 के चुनाव में केशुभाई पटेल की अगुवाई वाली गुजरात परिवर्तन पार्टी ने 3.6 फीसदी वोट हथिया कर सौराष्ट्र और कच्छ की 23 सीटों पर बीजेपी के प्रत्याशियों को हराया था। मौजूदा

बाबा साहब की सूक्तियों से सज्जित एक प्रचार वैन

पाटीदार आंदोलन केशुभाई की बगावत से कहीं ज्यादा बड़ा है।

एक और व्याख्या प्रोफेसर ज्योतिकर से बात कर के सामने आती है। वे दावा करते हैं कि चाहे जो हो जाए, गुजरात में 2017 में सरकार तो भाजपा ही बनाएगी। उनका कहना है कि गुजराती जनता का मानस भाजपा के हिसाब से बन चुका है और दलितों को भी भाजपा से कोई दिक्कत नहीं है। पटेलों के बारे में वे मानते हैं कि उसे सत्ता से चिपके रहने की आदत है इसलिए आज नहीं तो कल, पाटीदार भाजपा के साथ आ जाएंगे। वे इस दावे के पीछे विजय रूपानी की सरकार में चार पटेल मंत्रियों को शामिल किया जाना गिनवाते हैं जबकि आनंदीबेन पटेल की कैबिनेट से तीन पटेलों को हटाकर ऐसा किया गया है। वे कहते हैं, ''यह 'पी फॉर पी' है यानी पटेल के बदले पटेल की राजनीति।''

यदि वाकई ऐसा ही है, तब कांग्रेस का समीकरण कुछ सीटों को बढ़ाने से ज्यादा कामयाब नहीं हो पाएगा। दूसरी बात, चूंकि जिग्नेश मेवाणी चुनाव लड़ने की संभावना से इनकार नहीं करते हैं और साथ ही कांग्रेस में जाने की बात से भी इनकार करते हैं, लिहाजा अगर वे कोई तीसरी ताकत बनकर चुनाव लड़ेंगे तो कांग्रेस के परंपरागत 80 फीसदी दलित वोटों को कुछ हद तक तोड़ ले जाएंगे जिससे भाजपा की जीत गुजरात में आसान हो जाएगी। यह हालांकि दूर की कौड़ी है और इस दलील पर सिर हिलाने वालों की तादाद कम है।

यूपी पर निशाना: हालिया दलित उभार और जिग्नेश मेवाणी की चर्चा उत्तर प्रदेश में आगामी विधानसभा चुनाव के बगैर अधूरी है। ऊना रैली के समर्थकों का मोटे तौर पर यह मानना है कि गुजरात में न सही, लेकिन आंदोलन का दिया नारा यूपी में और बाकी देश पर जरूर असर डालेगा। यह बात कितनी अटकलबाजी है और कितनी मुमकिन, फिलहाल इस पर कुछ भी कहना संभव नहीं लेकिन जिग्नेश मेवाणी की 26 अगस्त को हुई लखनऊ और उसके बाद कुछ और शहरों की यात्रा उनकी अपनी मंशा को जरूर साफ करती है कि वे दलित आंदोलन के रास्ते आगामी चुनावों में भाजपा को नाथने की कोशिश में हैं। यही वजह है कि दिल्ली से लेकर यूपी तक भाजपा विरोधी तमाम तत्व इस दलित आंदोलन को एक उम्मीद की निगाह से देख रहे हैं।

दिक्कत यह है कि यूपी में दलित-मुसलमान गठजोड़ अगर कायम हुआ भी, तो वह ज्यादा से ज्यादा मायावती की बहुजन समाज पार्टी के पक्ष में जाएगा। यूपी की मुस्लिम राजनीति को करीब से समझने वाले लोग हालांकि आंदोलनों की एकता से आगे बढ़कर ऊना प्रक्रिया को नहीं देख रहे हैं। बेगुनाह मुसलमान युवकों की रिहाई के लिए अभियान चलाने वाले संगठन रिहाई मंच के प्रवक्ता शाहनवाज़ आलम साफ मानते हैं कि दलित प्रश्न को ब्राह्मणवाद अपने दायरे में हल कर लेगा। वे मानते हैं कि मुसलमानों के लिए सांप्रदायिकता का सवाल अहम है जबकि दलितों के समर्थन में उठाए जा रहे गाय के मुद्दे में सांप्रदायिकता का सवाल कहीं भी शामिल नहीं है। जिग्नेश मेवाणी ने 20 अगस्त को दिल्ली के प्रेस क्लब ऑफ इंडिया में अपनी कॉन्फ्रेंस में 'गाय की पूंछ' का नारा देते हुए अचानक एक बात कही थी जिस पर वहां बैठे पत्रकारों का ध्यान शायद कम गया होगा। उन्हों ने आरएसएस और भाजपा को संबोधित करते हुए कहा था कि 'आप अपना कम्युनल एजेंडा अपने पास रखो, हमें तो बस जमीन दे दो।'

अगर कम्युनल एजेंडा दलित आंदोलन के लिए प्राथमिक नहीं है, तो मुसलमानों को उससे जोड़ना सपना देखने जैसा है। पिछड़ों की राजनीति के पैरोकार और भूतपूर्व संपादक दिलीप मंडल इस बात को नहीं मानते। वे कहते हैं, ''गाय दलितों और मुसलमानों को एक कर देगी।'' कैसे कर देगी, इसकी सही-सही और ठोस व्याख्या किसी के पास नहीं है। अलग-अलग राज्यों में दलितों की भिन्न सामाजिक-राजनीतिक स्थिति इस सवाल को फंसा देती है। उत्तर प्रदेश के मामले में यह धुंधलका इसलिए खास हो जाता है क्योंकि यहां दलितों की सियासी नुमाइंदगी करने वाली बसपा की मायावती एक बार से ज्यादा मुख्यमंत्री रह चुकी हैं, बावजूद इसके दलित आंदोलन यहां लगातार पीछे चलता गया है। 2014 के लोकसभा चुनाव में तो स्थिति यह हो गई थी कि मायावती के काडर वोटों का 23 फीसदी भाजपा के पास खिसक कर चला गया था। आगामी विधानसभा चुनाव में यह आंकड़ा बढ़ने का खतरा है।

जहां तक मुसलमानों के वोट का सवाल है, तो उनके पास सपा, बसपा और कांग्रेस को मिलाकर तीन विकल्प हैं और जाहिर तौर पर हमेशा की तरह उनका वोट बंटेगा, एकतरफा नहीं होगा। अगर कांग्रेस और बसपा का कोई चुनावी गठजोड़ बनता है, तब शायद कुछ हद तक मुसलमानों और दलितों को एक मंच पर लाया जा सके। ऐसे में ऊना से निकले दलित उभार के लिए यूपी में चुनावी हस्तक्षेप की बहुत गुंजाइश नहीं रह जाती, सिवाय इसके कि वह चुपचाप कांग्रेस का बगलगीर बनकर खड़ा रहे। इस आंदोलन के शहरी समर्थकों में चूंकि कांग्रेस के लाभार्थी रहे स्वयंसेवी संगठनों और समूहों की तादाद पर्याप्त है, इसलिए अधिकतम संभावना यही बनती है। मानवाधिकार कार्यकर्ता तीस्ता सीतलवाड वैसे भी लंबे समय से घूम-घूम कर एक बात खुले तौर पर कह रही हैं कि अगर भाजपा को हराना है, तो सबको कांग्रेस की छांव तले आना होगा। 11 जुलाई के बाद इस प्रचार में केवल एक फर्क पड़ा है कि इसमें गाय जुड़ गई है। गुजरात में गाय के कंधे पर बैठकर यूपी में निशाना लगाना कितना कारगर होगा, यह अगले साल की शुरुआत तक साफ हो जाएगा।

मॉडल भीतर मॉडल?: ऊना में 15 अगस्त को हुई दलितों की जनसभा में रोहित वेमुला की मां और जेएनयू के छात्र नेता कन्हैया कुमार समेत दिल्ली-मुंबई से कई परिचित चेहरे आए थे। खचाखच भरे मंच से जेएनयू के छात्र नेता रामा नागा ने दलित उत्पीड़न की घटनाओं को गिनाते हुए 'गुजरात मॉडल' का परदाफाश किया और उसके बरक्स एक नया जुमला गढ़ा 'ऊना मॉडल'। उन्होंने कहा कि यह ऊना मॉडल दलितों का अपना मॉडल है जो इस देश की राजनीति को भविष्य की राह दिखाएगा। वैज्ञानिक दृष्टि से देखें तो 'ऊना मॉडल' का प्रयोग भ्रामक था क्योंकि 'गाय की पूंछ' के सहारे दलित-मुस्लिम एकता का सामाजिक-राजनीतिक लक्ष्य अभी 'वैलिडेट' नहीं हुआ है। इसलिए ज्यादा से ज्यादा इसे 'ऊना प्रॉसेस' कहा जा सकता है।

नाम में हालांकि कुछ खास नहीं रखा है, लेकिन शब्दों का लोकप्रिय प्रयोग कभी-कभार कही गई बात को जमीनी हकीकत से दूर कर देता है। मोदी के बहुप्रचारित गुजरात मॉडल के बरअक्स दलितों का ऊना मॉडल खड़ा करना जुमलों की राजनीति का सबसे ताजा उदाहरण है जिसके भीतर पहले से ही जुमलों और प्रतीकों की भरमार है। जिग्नेश 'ब्राह्मणवाद मुर्दाबाद' का रेटॉरिक तोड़ने की बात करते हैं, लेकिन अगले ही पल आंदोलन को एक नए रेटॉरिक में उलझा देते हैं। इसे विडंबना कहें या सहजता, लेकिन इसमें सतर्कता का साफ अभाव दिखता है और दक्षिणपंथी तर्क-पद्धति में उलझने के खतरे दिखाई देते हैं। यह खासकर तब और ज्यादा खतरनाक हो जाता है जब आरएसएस आंबेडकर को आधुनिक मनु जैसी उपाधियों से नवाज रहा हो और आंबेडकर के बहाने मनुवाद को स्वीकार्य ठहराने की कोशिश कर रहा हो। नई बोतल में पुरानी शराब वाले मुहावरे से बेहतर अभिव्यंजना इसकी क्या हो सकती है?

एक चिंतित करने वाली बात यह भी है कि जनवरी में रोहित वेमुला की 'संस्थागत हत्या' के साथ बरसों बाद कायदे से उठ पाने वाले दलित प्रश्नों की अब तक की यात्रा का सबसे कठिन पड़ाव इसी वक्त आना था, जब वेमुला को सरकार ने गैर-दलित साबित कर दिया है। यह गुब्बारे में पिन चुभाने जैसी बात है। लोगों की धारणा पर इसका असर जरूर पड़ेगा। कुछ दलित कार्यकर्ता तो अभी से ही मोहभंग की अवस्था में चले गए हैं और कह रहे हैं कि मौत के चार दिन बाद जब वेमुला के पिता ने टीवी पर आकर कहा था कि वह दलित नहीं है, तो उनकी बात क्यों नहीं सुनी गई। दलित खेमे में इस खबर का जबरदस्त असर पड़ा है। दूसरे, इन तमाम आंदोलनों के केंद्र में स्थित जवाहरलाल विश्वविद्यालय फिलहाल एक वामपंथी छात्र नेता द्वारा किए गए बलात्कार के सदमे से गुजर रहा है जिसने विरोधियों को वामपंथ समेत जेएनयू को खुलकर बदनाम करने का मौका दे डाला है। वामपंथी खेमे के भीतर इस बलात्कार पर छायी चुप्पी उसे और ज्यादा संदिग्ध बना रही है। तीसरी बात, ऐन इसी वक्त मुसलमानों की बढ़ती आबादी पर फासिस्ट शोध संस्था प्यू रिसर्च का अध्ययन आने और समूचे मीडिया में इस पर जमकर चर्चा होने से सामाजिक ध्रुवीकरण की स्थिति बनती दिख रही है। साथ ही कश्मीर में जारी संकट और 15 अगस्त के भाषण में प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी द्वारा किए गए बलूचिस्तान और गिलगिट-बाल्टिस्तान के जिक्र ने आग में घी डालने का काम किया है। इस तरह सत्ता के द्वारा मुसलमानों, दलितों और वामपंथियों को निशाना बनाने की कवायद लगातार जारी है जबकि बीते डेढ़ साल से इन्हीं समुदायों के बीच एकता बनाने का नारा दादरी व हैदराबाद से लेकर ऊना वाया जेएनयू बुलंद किया गया था। इससे समझ में आता है कि आंदोलन जितना मजबूत हुआ है, उसे बदनाम करने की कोशिशें भी उसी संजीदगी से जारी हैं।

ऐसे में रोहित वेमुला से शुरू होकर 'ऊना मॉडल' तक पहुंची बदलाव की सामाजिक-राजनीतिक प्रक्रिया की कहीं भ्रूण हत्या न हो जाए, इसका खतरा आसन्न है। यह खतरा बाहर से तो प्रत्यक्ष है लेकिन भीतर से भी कम नहीं है, जहां दलित आंदोलन की कमान संभालने वालों की भ्रामक राजनीतिक समझदारी का प्रमाण हमें अतीत में भ्रष्टाचार विरोधी आंदोलन के पतन के रूप में देखने को एक बार मिल चुका है। एक मॉडल की जगह दूसरा मॉडल खड़ा करना बुरा नहीं है, लेकिन मॉडल के भीतर मॉडल खड़ा करना या तो राजनीतिक अपरिपक्वता है या फिर चतुराई। परिवर्तनकामी लोग फिलहाल इन्हीं दोनों विकल्पों में से किसी एक को चुनने को अभिशप्त नजर आते हैं। ❐

mayos

Instant Noodles

ready-to-eat
Instant Noodles

Wonderful Mayos Noodles

For trade inquiries: Contact Bikash Sharma Ph.: 9864874240, Email: bikash.sharmahsnpl@gmail.com

Registered with Registrar of News Papers for India under R. No. 54722/88

GANNON DUNKERLEY & CO., LTD.

(An ISO 14001 - 2004)

REGISTERED OFFICE

NEW EXCELSIOR BUILDING, 3RD FLOOR, A.K. NAYAK MARG,
FORT, MUMBAI - 400 001

TEL: 91-22-22051231, FAX: 91-22-22051232

Website: gannondunkerley.com

E-mail: gdho1@mtnl.net.in

GANNONS ARE SPECIALISTS IN INDUSTRIAL STRUCTURES, ROADS, BRIDGES (RCC AND PRESTRESSED CONCRETE), RAILWAY TRACKS, THERMAL POWER, FERTILIZER, CHEMICAL, PAPER AND CEMENT PLANTS, WATER & WASTE WATER TREATMENT PLANTS, PILING FOUNDATION & FOUNDATION ENGINEERING.

GANNONS ARE ALSO PIONEERS IN MATERIAL HANDELING WORKS, MANUFACTURE OF PRESTRESSED CONCRETE SLEEPERS, ERECTION OF MECHANICAL EQUIPMENTS & PIPING AND SUPPLY OF TEXTILE MACHINERY AND LIGHT ENGINEERING ITEMS.

OFFICES AT:

AHMEDABAD - CHENNAI - COIMBATORE - HYDERABAD
KOLKATA - MUMBAI - NEW DELHI